स्त्रीप्रक्षाल की अविधेयता

अर्थात्

स्त्रीप्रक्षाल आगम और युक्तियों से सिद्ध नहीं है ।

सम्पादक

श्रीमान् पं० शिवजीरामजी जैन पाठक

राँची

प्रकाशक

लादूलाल हजारीलाल पाटनी जैन

प्रथमवार २००० | श्रावण सं० २०१२ | मूल्य आर्षमार्गानुसरण

॥ श्रीः ॥

लेखक का आद्य वक्तव्य

हमने सं० २०११ के भाद्रपद मास में स्त्रीप्रक्षालनिषेध नाम की पुस्तक लिखकर जैन समाज की सेवा में प्रकाशित की थी, उसको समाज ने बड़े आदर के साथ अपनाया था, जिसके फलस्वरूप कुछ महिनों में ही प्रथम प्रकाशन खतम हो गया। अब उसका दूसरा प्रकाशन भी यथासमय शीघ्र होने की सम्भावना है। हर्ष है कि जैन समाज ने बड़ी उत्सुकता के साथ उसका आदर किया, और समस्त भारतवर्ष के चारों कोनों से समर्थन रूप में आये हुए पत्रों ने हमारे उत्साह को बेहद बढ़ा कर हमें अनुगृहित किया। परन्तु शोलापुर से निकलने वाले श्री भा० व० दि० जैनसिद्धान्तसंरक्षिणी सभा के मुखपत्र को हमारा यह उत्कर्ष सह्य नहीं हुवा। उसके सम्पादकजी महोदय ने जैनदर्शन के वर्ष ५ अंक १ व ७ में हमारी पुस्तक की सब से अधिक कड़ी आलोचनाएँ की, हम उनको उद्धृत करके पुस्तक का कलेवर बढ़ाना पसद नहीं करना चाहते हैं। तोभी हमें उन समालोचनाओं का कुछ विवेचन करना ही पड़ा, उसका विशेष भाग श्री भा० व० दि० जैनसंघ के जैनसंदेश नामक समाचार पत्र के ३१ वें अंक से लेकर ३६ वें अंकों तक क्रमशः प्रकाशित हो चुका है, पूर्णभाग पाठकों की जानकारी के लिए उपयोगी समझ कर इस पुस्तक को आरम्भ करने के पहिले ही प्रकाशित किया गया है। पाठकगण उसे ध्यान से पढ़ेंगे, तो स्त्रीप्रक्षाल के विषय में आर्ष आगम क्या कहता है इसका तथ्यांश उनके

ध्यान में अवश्य आजायगा। पश्चात् सं० २०११ की दीप-मालिका के समय आचार्यकल्प श्री वीरसागर जी महाराज संघ के प्रधान संचालक श्रीमान् पण्डित ब्रह्मचारी सूरजमलजी साहिब ने १७१ पृष्ठों की पुस्तक को स्त्री द्वारा जिनाभिषेकादि पर समाधान नाम से प्रकाशित किया। संभव है कि समाजमान्य विद्वान् त्यागी और सेठ लोगों ने तथा साधारण सज्जनों ने उसे भी देखा ही होगा। उसी पुस्तक के विमर्ष रूप में हमें यह पुनः दूसरी पुस्तक विज्ञ जैन समाज के समक्ष में रखने का सौभाग्य प्राप्त हुवा है, मान्य पाठक गणों को इसे भी पढ़कर तथ्यांश में दृढ़ता लाने का सुयोग प्राप्त होगा। ब्रह्मचारी सूरजमलजी ने अपनी पुस्तक में स्त्रीप्रक्षाल विधायक एक भी आर्ष प्रमाण न देकर केवल उदाहरणों की भरमार, उपहास, उपालंभ, और अपशब्दों के ही द्वारा सफल मनोरथ होने की चेष्टा की है। और पक्षव्यामोह के आवेश में आकर भोली समाज को गुमराह करने का प्रयत्न किया है। विषय कषायों की प्रबलता से जकड़े हुए दुःखित प्राणी एक तो स्वयं ही स्वहित मार्ग से विपरीत होते जा रहे हैं, तिस पर भी यदि पक्षव्यामोह में सने हुए उपदेश दाताओं की प्रेरणा और मिलती रहे, तब तो स्वहित-मार्ग से और भी दूर होते जा रहे हों तो इस में आश्चर्य ही क्या है। इस प्रकार से दुःखित प्राणियों को उद्बोध कराने की सदिच्छा से यदि कोई इशारा भी करे, तो पक्षव्यामोही सज्जनों का उनपर आक्रमण करना कोई नई बात नहीं है। ऐसी घटनाओं से साहित्य ओतःप्रोत है। अभी हाल ही का एक ज्वलन्त उदाहरण है, कि जयपुर निवासी कलिकाल आचार्यकल्प स्वर्गीय पण्डित श्रीटोडर-

मलजी साहिब को सर्वथा निर्दोष अवस्था में झूठा कलंक लगाकर कुछ जैनेतर पक्षव्यामोहियों ने मौत के घाट उतार ही तो दिया था। क्योंकि पक्षव्यामोह की गहलता धर्म, अधर्म, जैन, अजैन का भेद भी तो नहीं रखती है। हमें तो इस बात की बड़ी प्रसन्नता है. कि ब्रह्मचारी सूरजमलजी साहिब तो हमको चाहे वेबुनियाद ही सही कुछ गालियां ही देकर शाँत हो गये हैं। हमतो उनकी निष्कारण गालियों को भी आशीर्वाद ही समझ कर अपना सौभाग्य ही समझ रहे हैं। क्योंकि उनके हृदय की पवित्र कृपा से अभी तक भी हमारे ऊपर कोई गहरा आक्रमण तो नहीं हो सका। यथार्थ में यदि वे किंचित् भी और विकृत हो जाते तो फिर हमारे जीर्णोद्धार होने में इतना विलम्ब कदापि नहीं हो सकता था। कारण यह है कि प्रथम तो उनमे निजी प्रबल धार्मिक शक्ति का अपूर्व बल था, और दूसरे कुछ बड़े-बड़े पण्डितों एवं कुछ परमौदासीन्य प्राप्त पुरुषों की सत्प्रेरणा थी। थोड़ी देर के लिये मान लिया जाय, कि यदि वे कुछ विकृत हो जाते, और हमारा उद्धार भी हो जाता तोभी अयुक्त तो होता ही नहीं, क्योंकि आगमप्रणीत पारम्परीण परम पवित्र सन्मार्ग का प्रदर्शन करते हुए शहीद हो जावे तो स्वग में ऐसे आनन्द से जीवन बिताते, कि जिसका पक्षव्यो-मोहियों को स्वप्न भी नहीं हो सकता है। अस्तु, यह भी अच्छा ही हुआ कि पूज्य ब्रह्मचारीजी महाराज की हार्दिक महती कृपा ने हमारे ऊपर वाक्प्रहारों के सिवाय कोई तान्त्रिक एवं मान्त्रिक प्रहार तो नहीं किया। और इस जीर्णशीर्ण मूढ़तापन्न अव्याकरणीय दशा में अपनी बुद्धि को जंगल में चरने के लिए भेजकर भी आगमप्रणीत सदाचारों

के प्रचार में टूटी फूटी प्रक्रिया के सहारे जितना भी हो सकता है, परहित नहीं तो न सही, स्वात्महित तो कर ही रहे हैं। अतः पूज्य ब्रह्मचारीजी से हम निवेदन करते हैं, कि आप ऐसे-ऐसे आशीर्वाद देते हुए हमें सदैव आत्महित में प्रेरित करते रहा करें। हमारी पुस्तक के समाधान रूप में जो ब्रह्मचारीजी ने पुस्तक लिखी है, एवं जिसको आप के ही समान बुद्धिवाले (समधी साहिब) ने प्रकाशित करके अपने को धन्य और कृत्य समझा है, उसमें सिवाय गालियों की भरमार, उपालंभ, उदाहरणों का बाहुल्य और अन्ततोगत्वा समाज के द्वारा हमारा बहिष्कार कराने की प्रेरणा के न तो कोई तथ्य है, और न स्त्रीप्रक्षाल विधायक एक भी आर्ष-प्रमाण ही, तोभी हमें तो ब्रह्मचारीजी के शुभाशीर्वादों ने पूर्णतया क्षमता रखने का ही पाठ सिखलाया है, जैसा कि आप सरीखे ब्रह्मचारी वेष के लिये आवश्यक था। भीतर में कुछ भी रहे उसे तो सर्वज्ञ ही जाने परन्तु बाहिरी वेषों का तो कुछ न कुछ असर पड़ता ही है, यही कारण है, कि नई वर्ष (अर्थात् आपके द्वारा प्रकाशित पुस्तक) के खातों को प्रारंभ करने के पहिले ही आपने हमसे क्षमा मांगकर पुराने वर्ष (अर्थात् अपने आंतरंगिक विकृतभावों) के खातों का आना पाई तक चुकता करके पूरा भुगतान बराबर कर लिया है। हमने इसको भी आपके सीधे सरल शांत एवं गंभीर हृदय में बसने वाली भावना ही मान रक्खी है। हम आपके इस खरे टकशाली भुगतान से यद्यपि कुछ प्रसन्न भी अवश्य हुए हैं, तो भी हम हैं तो व्याज के लोभी महाजन ही। इसीलिए एकबार इस बात का तकाज़ा तो कर ही देते हैं, कि यदि आपके पास कुछ गुंजाइश और भी

हो तो भविष्य में भी व्याज खाते के पेटे में भी इसी प्रकार के आशीर्वाद देते रहने की कृपा करते रहें। ताकि प्रमाद वश स्वात्महित में भी शिथिल न हो पावें। अस्तु, हमारी पुस्तक के समाधान रूप मे जो जयपुर से पुस्तक प्रकाशित हुई है, उसमें प्रस्तावना के रूप में जयपुर निवासी श्रीमान् पं० इन्द्रलालजी शास्त्री के परमावश्यक दो शब्द है। हमने उन्हीं दो शब्दों पर कुछ प्रकाश डालते हुए अपनी इस पुस्तक को प्रारंभ करना उचित समझा है। मध्य में समाधान पर विचार है और आखिर में बा० तेजपालजी काला के विचारों पर विमर्ष कर पुस्तक को समाप्त किया गया है। अन्त में हम विज्ञपाठकों की सेवा में यह विवेदन करते हुए अपने आद्य वक्तव्य को समाप्त करते हैं, कि आपलोग शांतचित्त होकर गभीरता के साथ हमारे लिखे हुए शब्दों पर पूरा परामर्श करके सरलतया तथ्यांश को ग्रहण करें। और जो कुछ हमारे लेख मे उचित या अनुचित मालूम हो, उसकी सूचना देकर हमे कृतार्थ करें। और प्रमादवश की हुई त्रुटियों के लिए हमे क्षमा करें। जिन २ सज्जनों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे हमारे इस कार्य में यथानुरूप मानसिक एवं आर्थिक सहायता प्रदान की है, उनकी इस महती उदारता के लिए हम उनके चिरकृतज्ञ है।

शिवजीराम जैन पाठक

—प्रकाशकीय वक्तव्य के ऊपर किये हुए विचारों की निस्सारता—

स्त्रीप्रक्षालनिषेध पुस्तक के प्रकाशक के नाते हमने उसमें एक छोटासा अपना वक्तव्य प्रकाशित किया था।

उसके अन्तर्निहित शुद्ध अभिप्राय की ओर लक्ष्य न देकर श्रीमान् माननीय पं० मक्खनलाल जी न्यायालंकार मुरैना, व श्रीमान् पं० इन्द्रलालजी शास्त्री जयपुर और ब्रह्मचारी सूरजमलजी साहिब हमारे ऊपर नाना प्रकार के दोषारोपण करके व्यर्थ ही कुपित होगये हैं। ये तीनों ही सज्जन-गणमान्य समाज प्रतिष्ठित एवं प्रौढ़ विद्वान् हैं। इन्हें हमारे सरीखे अपढ़ व्यक्ति पर कुपित हो जाना शोभा की चीज तो नहीं है। और न हम में ऐसी विद्वत्ता ही है, कि हम इन्हें समझाने का प्रयत्न करें। तौभी हमें अपना आंतरंगिक भाव प्रगट कर देना आवश्यक हो गया है, इसलिए प्रथम ही हम पं० इन्द्रलालजी ने अपने परम आवश्यक दो शब्दों में हमारे लिखने को जो अनुचित ठहराया है, उस पर अपना मन्तव्य जाहिर करते हैं। हमने जो सम्बंधविच्छेद की संभावना लिखी है, उसमें स्पष्ट रूप में उसके चार कारण लिखे हैं। भट्टारकों के द्वारा अपनी अक्षुण्ण परिपाटी को स्थिर न रखना १ अपने महत्व को चिरस्थायी न रख सकना २ समयान्तर में विपरीतता का घुसा लेना ३ और मनमानी स्वच्छंदता की प्रवृत्ति फैलाना आदि भट्टारकों की दुष्कृतियों से त्रस्त हो जाना ४। इन पर शास्त्रीजी को विचार करना चाहिये था, कि भट्टारक लोगों की उपर्युक्त अधार्मिक दुष्प्रवृतियों का निराकरण होना अशक्य समझकर ही समाजने उनसे असहयोग [सम्बंधविच्छेद] कर लिया था, और इन्हीं प्रवृत्तियों को दुहराने के आधार पर सम्बन्धविच्छेद की संभावना लिख दी गई थी, जो अनुचित भी नहीं थी। अतः यह उल्लिखित संभावना वस्तुतः दुःख उत्पन्न हो जाने की भी चीज नहीं थी, तिसपर भी शास्त्रीजी को व्यर्थ ही दुःख

हो गया। यदि ऐसे प्रसंगों से भी दुःख ही होता जावगा तो फिर इस दुःख का मिटना संभव भी नहीं है। महाराज आप तो विद्वान् हैं, आप को असहयोग के चारों कारणो का विस्तृत समाधान करके निस्सारता बतानी चाहिये थी, यों ही वचनमात्र लेख लिखकर कुपित हो जाना तो व्यर्थ ही हुवा। सम्बधविच्छेद [स्वकीय असहयोग] की आशका मात्र लिखने ही से शास्त्री जी के हृदय में उछलकूद तो पैदा हो गई, परन्तु उन्होंने उन आशकाओं के कारणों पर कुछ भी विवेचन नहीं किया। यह असहयोगी प्रथा एकान्ततः अनुचित एवं नयी तो भी नहीं है। रावण को उसके सहोदर भाई विभीषण ने अनेक बार बहुत प्रकार से समझाया तोभी वह अपना दुराग्रह छोड़कर सुमार्ग पर नहीं आया, और विभीषण में स्वयं इतनी शक्ति थी नहीं, कि वह रावण की प्रतिक्रिया कर सके, इसलिए उसने रावण से अपना सम्बंधविच्छेद कर ही लिया था, क्या शास्त्रीजी की दृष्टि में विभीषण का स्वयं विच्छिन्न हो जाना अनुचित है ? नवजात शिशुओं के प्रगतिशील विध्वंश में प्रवृत्त हुए राजा सौदास को प्रजा ने मिलकर जो उस को देश एवं राज्य से हटा दिया था, क्या शास्त्रीजी की दृष्टि में यह सम्बंधविच्छेद भी अनुचित ही है ? कामदेव वसुदेवजी के सौंदर्य पर मुग्ध अबलाओं में जब अपने होश सभालने की असमर्थता का पता दुखित प्रजा के द्वारा उनके बड़े भाई महाराजा समुद्रविजय को चला तब फौरन ही उन्होंने अपने प्राण प्यारे अनुज का संबंधविच्छेद कर दिया था, क्या शास्त्रीजी इसको भी उचित नहीं मानते हैं ? इसी प्रकार अपने में भक्ति शून्य जनता को जानते हुए भी नामधारी भट्टारकों ने

अमानुषिक दुर्व्यवहारों के द्वारा विवश करके जबरदस्ती भंवर (आहार) लेना आदि दुष्कृत्यों का प्रारंभ कर दिया, तब उनसे संत्रस्त होकर जैन समाज में अपना पिंड छुड़ा लिया (सम्बन्धविच्छेद कर लिया) था, क्या शास्त्री जी इस सन्निकटातीत घटना को भी भूल गये हैं ? इत्यादि सम्बन्ध-विच्छेदों की सत्य घटनाएं प्राचीनतम समय से होती आ रही हैं, हमने कोई नयी बात या झूंठी बात तो नहीं लिखी है, तिस पर भी शास्त्रीजी महोदय इस असहयोग को सकारण आशंकित लिखने मात्र से ही अस्वस्थ घटना का अनुभव करने लग गये, और इसी निर्मूल अनुभव से डरकर सम्बन्ध विच्छेदों के निराकरणार्थ लिखे हुए ब्रह्मचारीजी के निबंध को परमावश्यक समझ गये। और इस आवश्यकता को पूरी करने वाले ब्रह्मचारी सूरजमलजी को संतुष्ट रखने के इरादे से जयपुर से धनवाद (धन्यवाद) तक तो दौड़ गये, परन्तु इतने लम्बे मार्ग में भी आपने इतना विचार नहीं कर पाया कि इस अप्रिय घटना का मूलोत्पादक कौन है ?

इसी प्रकार ब्रह्मचारी सूरजमलजी साहिब द्वारा भी हमारे वक्तव्य में लिखी हुई सम्बन्धविच्छेद की भावना के कारणों पर विचार करके उनको दूर करने के लिये सुचेष्टा तो नहीं की गई, और हमारे सद्विचारों से सर्वथा विपरीत मनगढंत रीति से संबंधविच्छेद (असहयोग) का अर्थ डाईवोर्स (तलाक) तक करके ब्रह्मचारी होते हुए भी महाअनर्थ कर गये। महाराज आपको इतना वैपरीत्य तो नहीं करना चाहिये था। हमने अपने समूचे लेख में दूसरों का सम्बन्धविच्छेद करने या कराने के अभिप्राय से एक अक्षर भी नहीं लिखा। इसी प्रकार पति पत्नी की तलाक, जैनजैनेतर अग्रवाल खंडेलवालों

के पारस्परिक सम्बन्ध को विच्छेद करने का नाम या इशारा भी नहीं किया। और न अभी तक भी ऐसी अशोभन बातों को करने कराने की हमारी मंशा ही है। हमने तो अपने लेख में स्पष्ट लिखा है, कि जो कोई आगम विरुद्ध बातों की मनमानी प्रवृत्ति को अनुचित दबाब डालकर मनवाने के लिये दुष्प्रयास करेगा, तो समाज उससे अपना असहयोग कर लेगी। तिसपर भी ब्रह्मचारीजी महाराज ने मनमाना विपरीत अभिप्राय का मिथ्या आरोप लगाकर उससे होने वाले भयकर समस्त दुष्परिणामों का सारा बोझ हमारे ऊपर थोपकर हमें समाज की नजर से गिराने की व्यर्थ ही दुश्चेष्टा की है। अब पाठक समझ गये होंगे, कि हमारा क्या मन्तव्य था, और ब्रह्मचारीजी ने अपने सुवासित हृदय की दुर्भावना को प्रकट करते हुए कितना बड़ा भारी अनर्थ कर डाला है। महाराज आप तो समाज पूज्य सप्तम प्रतिमा नामधारी मध्यम श्रावक कहलाते हैं, अतः आपका अपनी लेखनी को संयत रखकर जवान में और दुरभिप्राय के विस्तार में संकोच करना चाहिये। ऐसे झूठे अपराधों को निर्दोष व्यक्ति पर लगाने रूप महा अन्याय तो व्रतियों की कौन चलाई, अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य श्रावक भी नहीं कर सकता है।

अब रही इन्दौर जैसे बहिष्कार की बात, सो हमको तो वह भी अभीष्ट नहीं है। फिर न जाने आप हमारे ऊपर झूंठा दोषारोपण क्यों करते हैं। महाराज इन्दौर में तो पन्द्रह बीस बड़े-बड़े आलीशान दिगम्बर जैन मंदिर हैं, और सभी सज्जन उन्हीं मंदिरों में अपनी-अपनी आम्नाय के अनुसार धर्मसाधन कर ही रहे थे। उनको शान्त उपायों से अपने अनुकूल करने की चेष्टा की जाती तो कुछ दूर तक

समीचीन भी मानी जा सकती थी। परन्तु कषायोद्रेक एवं हठवाद के सहारे जो एक नये पथ का (इन्दौर की अपेक्षा) अंकुरा आरोपण कर भी लिया तो उससे ब्रह्मचारीजी महाराज के हाथ कौन सा साम्राज्य आ गया। महाराज वहां तो अभी तक भी प्राचीन आर्षमार्गानुयायियों का ही बाहुल्य है। धार्मिक प्रवृत्तियों के प्रचार के लिए न्यायालयों के दरवाजे खटखटाने से यदि कोई विजयी भी हो जाय तौभी वह अपना आत्मकल्याण तो कर ही नहीं सकता है। अतः विजयी होने की भी लालसा रखना व्यर्थ ही है। हमें तो केवल इतना ही अभीष्ट है, कि सभी कोई शान्ति के साथ अपनी अपनी अम्नाय के अनुसार धर्म का साधन करते कराते रहें। और अनुचित उपायों से किसी को भी बाध्य नहीं किया जाय। ताकि धार्मिक समाज के हृदय में असहयोग की संभावना भी नहीं पैदा हो सके। हम जिन अनार्ष मनमानी प्रथाओं से त्रस्त हाकर उनसे अपना असहयोग रखना चाहते हैं, या उनके प्रचारकों की धींगाधींगी से त्राण चाहते हैं, उन मनमानी प्रथाओं को स्थगित रखने के लिए भी ब्रह्मचारीजी तैयार नहीं है। और जिन सदाचारी योगियों से सम्बन्ध-विच्छेद करने का हमारा स्वप्न मे भी विचार नहीं है, उन्हीं से सम्बन्धविच्छेद करने के लिए हमें बार-बार प्रोत्साहित करते हैं, या पुस्तकें जला देने की आशंका खड़ी कर देते हैं। ये बातें भी ब्रह्मचारीजी के लिए शोभाजनक नहीं हैं। हम पहिले यह भी स्पष्ट लिख चुके हैं, कि हमारा अभिप्राय साधुओं के साथ सम्बन्धविच्छेद करने का हर्गिज नहीं है, तोभी यदि ये मनमानी धांधलबाजियां स्थगित हो जाने के बजाय बलप्रयोग द्वारा बढ़ती ही गई तो हमें ही नहीं किन्तु

प्रत्येक सहृदय व्यक्ति को अपनी रक्षा करने के लिए मनमानी धांधली बाजी को बलात्प्रोत्साहन देने वालों से सन्निकट भविष्य में असहयोग कर लेने के सिवाय और कोई दूसरा शान्त मार्ग ही नहीं है। ब्रह्मचारीजी महाराज आप दूसरों के शुद्ध हृदय को भी देखिये, आँख मीच कर सम्बन्धविच्छेद का अर्थ डाईवोर्स (तलाक) करने का अतिसाहस मत कीजिये। यह आप का अतिसाहस किसी को भी सह्य एवं वांछनीय नहीं होगा। गोमय आदि आठ लौकिक शुद्धियों का हमने निषेध भी नहीं किया है, तिसपर भी हमारे विषय मे ब्रह्मचारीजी महोदय न जाने क्यों अपनी पुस्तक के ११ पृष्ठों को व्यर्थ में ही काले करने पर उतारू हो गये? तथा इसी प्रकार न जाने किस अभिप्राय से हमको अपराधाभाव में भी अनेक गालियाँ दे गये? इससे मालूम होता है, कि ब्रह्मचारीजी को जो गृहस्थ अवस्था में गालियाँ देने की बुरी आदत पड़ गयी थी, उसका त्याग अनुपम सत्संगति में निरंतर रहते हुए भी अभी तक इस पूज्य अवस्था में भी नहीं बन सका। ईश्वर इनको क्षमा करे, ये हैं भ्रम खाये। पीछी मेंशरीरजत्व होने पर भी पाँच मुख्यगुणों के आधार पर आर्ष-ग्रन्थों में उसकी उपादेयता स्वीकार की गई है, इसीलिए उसकी ग्राह्यता आबाल प्रसिद्ध है। परन्तु वह पीछी केवल धनादि के त्यागी वीतरागी साधुओं के लिये ही संयम का उपकरण होने से व्यवहारोपयोगी है। इसके विपरीत जो गृहस्थ धनादि के त्यागी नहीं हैं, और अनेक प्रकार के शुद्ध उपकरणों के द्वारा स्वपदस्थोचित संयम की रक्षा करले सकते हैं, वे भी पीछे से झाड़ू का काम ले बैठें, तो यह है तो व्यतिरेक ही।

भगवान् के आठ प्रातिहार्य देवोपुनीत महापवित्र होते हैं, उनमें आये हुए चमर को जोकि परम शुद्ध परमाणुओं से बने हुए होते हैं, उनको चमरी गाय की पूछ बताना सर्वथा असंगत व्यतिरेक ही है। जिस प्रकार स्वयं गिरे हुए मयूरपंखों को आचार्यों ने संयम की रक्षार्थ ग्राह्य माना है, उसी प्रकार क्या आचार्यों ने स्वय मृतक प्राणियों के शरीर नख केश चर्म आदि निकृष्ट पदार्थों को भी ग्राह्य माना है? या कोई साधु या ब्रह्मचारीजी स्वयं सीप, ऊर्णवस्त्र, हाथी दाँत की बनी हुई, या सांभर के सींगों से बनी हुई चूड़ियों से छुए हुये आहार को ग्रहण कर सकते हैं? हर्गिज नहीं। महाराज मयूर पंखों से बनी हुई पोछी का ही मुनियों के लिए उपयोग में लाने का शास्त्रीय विधान है, गृद्ध पंखादि का नहीं। आपत्ति काल में उमास्वामि ने क्वचित् ग्रहण कर लिया था, इस लिए इसको सिद्धान्त के अनुकूल ही समझ लेना गहरी भूल है। इसी भूल को मान देने की आन्तरंगिक भावना से ही कदाचित् ब्रह्मचारीजी को मयूरपंखों की पीछी के मिट जाने की आशंका के सहारे कस्तूरी गोरोचन गौमूत्र आदि अशुचि पदार्थों को खाद्यरूप व्यवहार में लाने की सूझी है? महाराज ये पदार्थ यदि आप को खाद्यप्रतीत होते हैं, तो आप खुशी से खाईये। आप को रोकने के लिए कौन तैयार है। परन्तु जनसाधारण का खाना खराब आप को अपने दिव्य संदेशों से नहीं करना चाहिये। जिस प्रकार मक्खन अखाद्य है और पर्यायान्तर रूप में ही बनजाने पर उसमें शास्त्रविहित खाद्यता आ जाती है, उसी प्रकार गोमय वस्तुतः अग्राह्य होने पर भी पर्यायान्तर रूप में सूख जाने पर आपत्ति काल में लौकिक

रीति से अग्राह्य होने पर भी पर्यायान्तर रूप में सूख जाने पर आपत्ति काल में लौकिक रीति से ग्राह्य हो जाता है। आपत्ति काल को जोड़ कर साधारण अवस्थाओं में भी झरना का पानी, शुष्कगोमयखंड, मयूरातिरिक्त पंक्षियों के पंख आदि क्या मुनिजनों को ग्रहण कर लेना चाहिये ? अकलंक देव, विद्यानन्द्याचार्य चामुण्डराय पं० सदासुखजी आदि ने जिनेन्द्र की आरती में गोबर रखने का विधान कहां पर किया है ? गोमय के व्यवहार मात्र का, और गोमयभस्म-पचित बाटियों का हमने कहां निषेध लिखा है, जो आप व्यर्थ ही हमें उपालंभ देने लगे हैं। हमने तो केवल इतना ही लिखा है कि गोबर से जिनेन्द्र भगवान् की आरती करने से पवित्र जैन धार्मिक भावनाओं मे गहरी ठेस पहुंचती है। इसका निषेध करने में तो ब्रह्मचारीजी ने एक भी आर्षमार्ग का प्रमाण नहीं दिया, और कतिपय अनार्ष ग्रन्थों के अधार पर ही अपने लेख को वेहद लम्बा कर दिया है। आश्चर्य इस बात की है कि ब्रह्मचारीजी महाराज प्रमाण सोमदेव का नाम मात्र देकर एक तरफ तो आरती में गोबर रखना स्वीकार करते हैं और दूसरी ओर यह भी लिखते हैं कि "गोमय को काम में मत लीजिये, परन्तु असह्य रीति से उसका विरोध भी मत करिये। आरती में गोमय रखने की प्रथा नहीं, यदि किसी ग्रंथ में आरती के थाल में गोमय रखने का विधान भी हो तो उसको अप्रमाण मत कहिये" ब्रह्मचारीजी ने अपनी हार्दिक दुरंगी नीति का स्पष्ट खाका खोलकर समाज के सामने रख दिया है, अब पाठक ही स्वयं सोच लें कि ब्रह्मचारीजी दो घोड़ों पर सवार होकर सब धानों को बाईस पसेरी बेच कर क्यों कृतकृत्य होने जा रहे

हैं। इस दुरंगी नीति से औरों की भलाई तो जाने दीजिये अपना कल्याण भी नहीं कर सकते हैं। आरती में गोबर रखने का विरोध भी न करना और उसे काम में भी लाना इसका क्या मतलब है? यही न कि जो हमें मनमानी तौर पर बतला दिया गया है उसी को अभी नहीं तो कालान्तर में कभी न कभी तो मान्य करने के लिए अभी से कटिबद्ध हो जांय। सोमदेव की आज्ञा को शिरोधार्य करने वाले इस बात का खुलाशा क्यों नहीं करते हैं कि आरती में गोबर रखने की प्रथा क्यों नहीं? कुछ कारण लिखा जाता तो और भी विचार किया जाता। अस्तु ब्रह्मचारीजी के लेख से स्पष्ट मालूम होता है, कि आरती के थाल मे गोमय रखने का विधान पोंगापथी ग्रन्थों के सिवाय किसी भी आर्षग्रन्थ में नहीं है। ब्रह्मचारीजी महाराज दबी जबान से यह तो स्वीकार करते है, कि *आरती की थाली मे गोबर नहीं रक्खा* जाता है, फिर विरोध तो इतना ही रहा कि आपका अभिप्राय तो "नहीं रक्खा जाता" है इस रूप में है और हमारा यह लिखना है कि "नहीं रक्खा जा सकता" है। इन उभय पक्षी मान्यताओं में फर्क तो केवल "सक" का ही है यदि ब्रह्मचारीजी अपने हृदय को उदार बनाकर केवल "सक" इन दो अक्षरों को ही स्वीकारमात्र करके शान्त रह जाते तो आज इस व्यर्थ के बवडर को उठाने की आवश्यकता ही नहीं थी। सर्वथा पवित्र वीतरागी स्नातक परमभट्टारक की प्रशांत छवियों की आरतो के थाल में वास्तविक रूप में अशुचि गोबर को न रखने के लिए भोली जनता को समझाने को ब्रह्मचारीजी महोदय गाली देना बताते हैं और उसकी सफाई में यह स्पष्ट लिखते हैं कि आरती में गोबर रखने वाले को "क्या पाप का

डर नहीं है, आप को ही है" । इस सत्य सिद्धान्त को आप व्यर्थ ही उपालंभ के रूप में क्यों छिपाना चाहते हैं । कुछ दूषितकणों को निवारण करने की वजह से ताजे गोबर को केवल दूषितकण निवारणार्थ आचार्यों ने लौकिक शुद्धियों में उसे व्यवहारोपयोगी लिख दिया है इसका विरोध कौन करता है, तोभी क्या ताजा गोबर इतना पवित्र मानने लायक है, जो भगवान् की आरती के लिए उपादेय समझ लिया जाय। ब्रह्मचारीजी महाराज बच्चों के मल को जिसमे कि दूषितकण होते हैं, और जिनसे अनेक प्रकार की संक्रामक बीमारियों के फैलने की आशंका है, उन्हीं दूषितकणों को दूर करने के लिए आचार्यों ने गोबर को क्वचित् उपयोगी बताया है। भगवान् की पवित्रतम मूर्तियों में तो दूषित कणों की कदापि संभावना भी नहीं हो सकती है, फिर आप भगवान् की आरती में रखने के लिए भोली जनता को क्यों प्रोत्साहित करते हैं? क्या ब्रह्मचारीजी महोदय इस बात को सप्रमाण साबित करने की क्षमता रखते हैं, कि ताजे गोबर में अनेकानेक जीवित अवस्था में त्रस जीवों का सर्वथा सद्भाव नहीं है? या वे जीव अमर ही रहते हैं? हर्गिज नहीं, फिर ऐसी दशा में जो ताजे गोबर में सूक्ष्म अनेक त्रस जीव अनिवार्य रूप में रहते हैं और उनका विनाश भी अवश्यंभावी हैं तो पाठकगण ही विचार करें कि उनके विनाश का जुम्मेदार गोबर से आरती करने वाला होगा या उसका निषेधक? इस सत्य सिद्धान्त को छिपाकर गोबर से आरती करने वाले को उपालंभ रूप में पाप से भयभीत बताना क्या समुचित है? हम मे तो जितनी शक्ति है, और जितना अवकाश मिलता है, समस्त अनर्थों को ही बुरा समझते हैं, और यथासाध्य

कुछ करते भी हैं। हमारा योग क्षेम ब्रह्मचारीजी सरीखा तो है नहीं जो हम उनकी बराबरी कर सकें। दूसरे एक और बात यह है, कि आगम की ओट में अनर्थ परम्परा फैलाने की बुद्धि एवं सामर्थ्य तो हम में नहीं है, और न हम यह चाहते हैं कि ऐसी बुद्धि एवं सामर्थ्य की हमें स्वप्न में भी उपलब्धि हो। इस दशा में यदि कोई त्यागी या विद्वान् हमे कायर या आगमाभासों का विरोधी कहरा कर कृतकृत्य होना चाहे तो खुशी उसकी, भला हम किस २ को रोकते चलें। रोकने का प्रयत्न तो वे कर सकते हैं, जिन्हें धर्म के ठेकेदार बनने की इच्छा हो। अब हमारे इस दिमाग को कोई ठंढा समझे या न समझे, इसके लिये हम व्यर्थ ही चिंतित भी नहीं हैं।

ब्रह्मचारीजी सभी प्रतिष्ठापाठों मे गोमय को उपयोगी लिखना समझते हैं सो भी नहीं है। और गोमयी प्रतिष्ठाओं के द्वारा प्रतिष्ठित हुई मूर्त्तियों को भी अपूज्य ठहराने का उपदेश दे रहे हैं यह भी आप की अनभिज्ञता ही ह। यदि किसी अज्ञानी व्यक्ति ने अविधि से प्रतिष्ठा करा दी, और उन प्रतिष्ठित प्रतिमाओं को सर्वाभिमत पूज्य समझ लिया गया हो तो मूर्त्तियां आचंद दिवाकर पूज्य ही हैं, उनको भी अपूज्य ठहराना विद्वत्ता के लिए तो खेदजनक ही है। वर्त्तमान में सिद्धों की प्रतिमाएं अशास्त्रीय रूप में ही प्रतिष्ठित पाई जाती हैं या कुछ विकृत प्रतिमाओं की भी प्रतिष्ठा हो गयी हैं उनको अपूज्य ठहराना हर्गिज उचित नहीं है। हाँ ऐसी अशास्त्रीय विधि से प्रतिष्ठा नहीं होनी चाहिये, यह कहना तो समुचित है परन्तु उन प्रतिष्ठित एवं चिरकाल से पूजित प्रतिमाओं को अपूज्य कहना ही नहीं किन्तु मंदिरजी

से निकालकर बाहर फेंक देने को सलाह तो आप सरीखे पक्षव्यामोही और असीमित दृष्टि कोणी पुरुष ही दे सकते हैं। हम तो न ज्ञानसागर हैं और न ऐसे विद्वान् ही हैं जो आप सरीखा निरगल लेख लिखने की धृष्टता कर सकें, या भाषण भी दे सकें, आपने विनोबाभावे, पं० माणिकचंद्रजी न्यायाचार्य, पूज्य क्षुल्लक न्यायाचार्य पं० गणेशप्रसादजी वर्णी और पं० शिवजीरामजी जैन पाठक को तो निग्रन्थ साधुओं की अपेक्षा आचार्यत्व या पाठकत्व से शून्य या कुछ को वेतनभोगी भी कह दिया सो तो कोई विशेष अनुचित भी नहीं है क्योंकि वास्तव में ३६ या २५ मूलगुणों के धारी निर्ग्रन्थ वीतराग साधु ही आचार्य या पाठक हो सकते हैं। परतु आपने डिगरियों के सहारे नाम मात्र लिखने वालों की तो मखौल उठा दी, और जो आप के पक्षपाती बिना डिगरियो के ही अपने पिट्ठुओं की कृपा से आचाय बन बैठे हैं उनके विषय में आपने अभीतक भी कुछ भी नहीं लिखा। यह आप की विषम दृष्टि उचित तो नहा है फिर आप की मर्जी। आचार्य सोमदेव का आपने उल्लेख मात्र किया है परन्तु उनके ग्रन्थ का नाम नहीं लिखा है। इसी प्रकार आपने उमास्वामिश्रावकाचार में उल्लिखित भट्टारकीय पूर्वापरविरुद्धता की भी मान्यता का डंका पीटा है सो क्या यह आप का मनमानी लीला का नग्न अकांड ताण्डव नहीं है? शायद इसीलिए आपने "उनकी क्या दृष्टि थी उसे तो वे ही जाने", लिखकर अपनी सफाई पेश कर दी है। जब आप मे उनके दृष्टिकोण को भी समझने की योग्यता नहीं थी तो फिर बिना समझे बूझे आरती में गोबर रखने का समर्थन ही क्यों करने चल पड़े? अब पाठक अच्छी तरह से समझ गये होंगे कि आरती में गोबर रखने

की कल्पना कहां से और क्यों आ धमकी। यशस्तिलकचम्पू या नीतिवाक्यामृत आचार्य सोमदेवजी के ही हैं इस बात को वर्त्तमानकालीन अंधेरी चकाचौध में कैसे प्रमाणित किया जा सकता ? यों तो ब्रह्मचर्याणुव्रती को वेश्या सेवन की छुट्टी दे देने वाले पं० आशाधरजी भी तो अपने को मूलसंघीय मानते भी थे। इससे अधिक और क्या कहा या लिखा जाय। हद हो गई उच्छृंखल प्रवृत्तियों की और उनके पिट्ठुओं के चातुर्य की। बस, अंत में हम श्रीमान् पण्डित शिवजी रामजी जैन पाठक के हृदय में आभारी हैं कि जिन्होंने अमूल्य समय देकर जैन समाज को उद्बोध कराने के लिए सत्प्रयत्न किया है।

विनीत
लादूलाल पाटनी रांची

सम्मति-संग्रह

राँची वास्तव्य श्री पं० शिवजीरामजी जैन पाठक ने पंचामृताभिषेक करना, पाषाणादि निर्मित वीतरागनिर्ग्रंथ अरहंत भगवान् की प्रतिमा का स्त्रियों द्वारा प्रक्षाल करना, मुनियों को आहारदान करना, आदि यज्ञोपवीतादि क्रियाकांडों से सम्बन्धित अनेक विषयों पर एक पुस्तक प्रकाशित की है। इन विषयों पर यद्यपि पहिले भी उभयपक्षीय विद्वानों के अनुकूल प्रतिकूल मत प्रकाशित हो चुके हैं। फिर भी विभिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न पद्धतियों के अनुसार शुभाचरण करके लोग पुण्यार्जन किया ही करते थे। किसी एक दूसरे के प्रति मिथ्या दृष्टि आदि जैसे अपशब्दों का व्यवहार करना भी बहुत कुछ बंद हो गया था। परन्तु अब कुछ वैपरीत्य प्रतीत होने लगा है और प्रान्तीय पद्धति का व्यापकरूप बनाने की चेष्टा की जाने लगी है। स्त्रियों के द्वाराजिन प्रतिमा का प्रक्षाल होना यद्यपि कुछ पौराणिक आख्यानों में किसी अपवादात्मक एवं काम्यकर्मों की साधना के रूपमें उल्लिखित पाया जाता है। तौभी चरणानुयोग (आज्ञाशास्त्र) द्वारा विहित रूप में मान्य नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार पंचामृताभिषेक का किया जाना भी अभीष्ट साधनार्थ या किसी विपत्ति के प्रतिकारार्थ कतिपय लोगों के द्वारा कादाचित्क रूप में किया हुवा ही देखने में आता है। यह भी कोई आर्षागम विहित नित्यकर्म नहीं है।

पं० बंशीधर जैन
न्यायालंकार, प्रधानाध्यापक, इन्दौर

कुछ प्राचीन काल से औत्तरीय दाक्षिणात्य दो भेद कलिकाल के सर्वज्ञ सदृश आगमज्ञ श्रीवीरसेन स्वामीजीने धवला में निरूपण किया है। विद्वानों को विषयनिरूपण तथा अपना अनादिकालीन आगम (जिनवचन) प्रतिपादन केवल तर्क से होना ठीक नहीं है। अस्तु, स्त्री प्रक्षालन कर्नाटक प्रान्त के दक्षिण में कहीं नहीं होता है। स्त्रियां गर्भगृह में प्रवेश नहीं करती हैं। निषेध है। गर्भ जन्म कल्याणकों मे शची देवी करती है लेकिन प्रतिष्ठित जिन मूर्त्तियों में पंच कल्याण हो गया है। केवल एक दो नहीं है अतएव इधर भी अभी तक स्त्रियां प्रक्षालन नहीं किया करती है।

पं० नागराज शास्त्री न्यायतीर्थ मूडबिद्री दक्षिण कनाडा

स्त्रीप्रक्षाल आदि निषेध पुस्तक देखने में आई। पुस्तक बहुत ही सुंदर लिखी गई है। समय की मांग के अनुसार साहित्य प्रकाशन की यह पद्धति वास्तव में स्तुत्य है। हमारे इधर श्री वीरसागरजी मुनिराज का संघ विहार कर रहा है इस वक्त उनका चतुर्मास टोडा (जयपुर राजस्थान) में है उनके द्वारा पंचामृताभिषेक, स्त्रीप्रक्षाल, बैठकर पूजन करना आदि आगम विरुद्ध क्रियाओं का जोर शोर से प्रचार हो रहा है। भोली जनता उनके बहकाव में आजाती है। इधर सदा से शुद्धाम्नाय ही चल रही है। परन्तु इन त्यागियों की वजह से विक्षोभ हो रहा है। और अज्ञानी जनता भय आदि से अनिच्छा पूर्वक उनकी आज्ञा मान लेती है। अस्तु, ऐसी हालत में आप के द्वारा यह प्रकाशन सामयिक और महत्व पूर्ण है कृपया ५-७ प्रतियें अवश्य भिजवाने का कष्ट करें जिस से भ्रमित जनता का स्थिति करण किया जावे। आप के प्रकाशनों का अच्छा सदुपयोग होगा। और जनता काफी लाभ उठायगी। आप

के प्रकाशन छपाई सफाई की दृष्टि से भी बड़े सुंदर और कलात्मक होते हैं।

रतनलाल कटारिया केकड़ी

पुस्तक बड़ी उपयोगी है। यहां बहुत से भाई प्रमाण पूछते हैं कि किस शास्त्र में स्त्री का प्रचाल न करने को लिखा है हमको प्रमाण बताओ। सो यह पुस्तक आपने बड़ी उपयोगी निकाल कर कमी को पूरा किया है।

ब्रह्मचारी गोरेलाल इन्दौर

पुस्तक तुर्त भेजने की कृपा करें, ताकि उसे देख कर हम भी वैसा ही ट्रैक छपाकर वितरण करावें यहां इस ट्रैक की बडी जरूरत है कुछ उन्मार्ग गामी मुनियों के अंध भक्तों ने बडा पाखंड जैन समाज में फैला रक्खा है। पुस्तकें मिली उनका यहां अच्छा सदुपयोग हुवा है। और अपने शुद्धाम्नायी तेरापंथी समाज के सदस्यगण जो ढीले पड़ रहे थे पुनः अपने सिद्धान्तों पर दृढ़ होते जा रहे हैं। अडोस पडोस के गांवों मे भी मैंने पुस्तकें भेजी हैं आशा से अधिक प्रचार हुवा है। इधर इस के खिलाफ में सूरजमल ब्रह्मचारीजी ने १७१ पेजकी किताब जो निकाली है वह भी अपनी किताब का प्रभाव नष्ट नहीं कर सकी है। किन्तु उस में लिखे हुए ६७ वें में पृष्ठ के तीसरे कालम में पंचामृताभिरेषेक पर अपने आप ही पानी फेर दिया गया है।

कन्हैयालाल अनूपचंद्र सरावगी नागौर

आप का यह कार्य सराहनीय है ऐसी सुंदर पुस्तक लिखकर सारी समाज का जो उपकार किया है वह प्रशंसनीय है ही। परन्तु भविष्य में मैं आशा करता हूं कि शास्त्रानुसार

जैन सिद्धांतों का मथन कर ऐसी पुस्तक समाज के सामने एवं सर्व साधारण के हितार्थ प्रकाश में लाने का कष्ट करेंगे। जिन के पठन पाठन से इतर जैन भी एक बार के अवलोकन से दंग रहजाय।

रावत ऋषभलाल विशारद राघोगढ

ता० २०-१०-५४ के जैन दर्शन में एक लेख पढ़ा। आपने स्त्रीप्रक्षाल निषेध पर किताब लिखा है उस विषय का पं० मक्खनलालजी शास्त्री ने खंडन किया है यद्वा तद्वा लिखा डाला है इसलिये आप का लिखा हुवा किताब मुझे जरूर भेज देना। भूलना नहीं। कारण हमारे यहां भी इस विषय की चर्चा जोर से चली है। हमारे मत से प्रक्षाल करना शास्त्र विरुद्ध है। ऐसा हमारा कहना है इसलिए आप की किताब पढ़ने में मेरा विचार और भी दृढ़ होगा इसलिए आप किताब ज्यादा हो तो ५-४ भेजें। न हो तो कम से कम १ पुस्तक जरूर २ भेजने का कष्ट करें। हमारे यहां पर पूज्य स्वास्ति श्री आर्यव्रती कुलभूषण जी महाराज हैं। महाराज ने आप को आशीर्वाद लिखने के वास्ते कह दिया लिखा हुं सो जानना। महाराज का भी अभिप्राय स्त्री प्रक्षाल नहीं करना चाहिये अर्थात् करना नहीं ऐसा है।

अण्णा साहिब पाटील येरमाला (बेलगांव)

स्त्रीप्रक्षाल आदि निषेध पुस्तक को आद्योपान्त पढ़ा, इसमें स्त्रीप्रक्षाल आदि विषयों को प्राचीन आर्षग्रन्थों के प्रमाण देकर प्रत्येक विषय पर आप के द्वारा सत्प्रयत्न एवं गम्भीर प्रयास किया गया है जिससे भोली समाज से हो जाने वाली भूल से बचाया है।

छोटेलाल जैन अदावन

आपने स्त्रीप्रक्षाल आदि निषेध बड़ी योग्यता से किया है। इसके लिए धन्यवाद है।

मक्खनलाल जैन दिल्ली

जैन सदेश से यह जानकर कि आपने स्त्रीप्रक्षाल आदि निषेध नाम की बड़ी उपयोगी पुस्तक प्रकाशित की है। उसकी यहाँ बड़ी प्रशंसा हुई।

दिगम्बरदास जैन मुख्तियार सहारनपुर

आपकी पुस्तक दर असल में उपयुक्त है। आपने ऐसी पुस्तक लिखकर अंधेरे मे गिरती हुई जैन समाज को प्रकाश में ला दिया है।

मांगीलाल भोकासा बड़वाहा इन्दौर

श्री पं० शिवजीरामजी जैन पाठक राँची द्वारा लिखित स्त्रीप्रक्षालादि निषेध ट्रैक्ट ध्यान पूर्वक देखा। मूलसंघ एवं काष्ठासघ की मान्यताओं के विषय मे गम्भीर विचार करके लेखक ने अपने विषयों के सम्बन्ध में पर्याप्त गवेषणा पूर्वक शास्त्राधार से वर्णन करके उन्मार्गोन्मुख जैन जनता को बचाने के लिए पूर्ण प्रयत्न किया है। सच्ची आत्मा की उन्नति तो ट्रैक्ट में वर्णित विधि के अनुसार आचरण करने से ही प्राप्त होगी। क्योंकि जनता यौवन धनसम्पतिः प्रभुत्वमविवेकता के कारण आर्षमार्ग के प्रतिकूल आचरण करती हुई भी शंका नहीं करती है और अपना अनिष्ट कर लेती है अतः हमारा सुझाव है कि जनता इस ट्रैक्ट में वर्णित आर्षमार्गानुसार अपना आचरण बनावे, और किसी के झूठे बहकाव मे न आवे।

पं० जुगमन्दिर दास जैन M D. H जोबनेर (जयपुर)

श्रीमान् पं० शिवजी रामजी "पाठक" रॉची द्वारा लिखित पुस्तक "स्त्रीप्रक्षाल आदि निषेध" पढ़कर अत्यन्त हर्ष हुआ, आपने जिस विद्वत्ता और अकाट्य युक्तियों और प्रमाणों से स्त्रीप्रक्षाल आदि का निषेध किया है उससे आपके साहस का तो पता चल ही जाता है। साथ ही पाठकों को यथार्थ वस्तु तत्व का परिज्ञान भी सहज हो जाता है। सत्य वस्तु का निरूपण करना आज-कल प्रायः कलह का विषय बन जाता है। इसलिए बहुत से विद्वान अपने हृदय के भावों को छुपा लेते हैं। किन्तु आपने इस बात की किंचित मात्र भी चिन्ता न कर समाज के सन्मुख यथार्थ वस्तु स्थिति रक्खी है। शास्त्रों में भी लिखा है कि इस समय यथार्थ कहने वाले ही नहीं हैं, करने वालों की तो बात ही क्या है। अतः समाज आपका सदैव ऋणी रहेगा। पुस्तक दि० जैन सिद्धान्तानुकूल लिखी गई है। मुझे विश्वास है कि जैन समाज इस छोटी सी केवल ५६ पेज की पुस्तिका से अपनी आम्नाय की रक्षा कर सकेगी। और किसी भी प्रकार किसी अन्य प्रकार के भ्रम में न पड़कर अपने कल्याण रूप समीचीन सच्चे मार्ग का अनुसरण करेगी। और आम्नाय विरुद्ध व्यर्थ के वितण्डावाद में न पड़ेगी।

मैं पुनः एकबार 'पाठक' जी का आभार प्रदर्शित करता हुआ हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

मनोराम जैन ऐत्मादपुर

स्त्रीप्रक्षाल विषय के बारे में मेरा तथा गुरु चारु कीर्त्ति पण्डिताचार्यवर्य स्वामीजी का अभिप्राय एक ही है।

पं० शांतिराज शास्त्री काव्यतीर्थ श्रवणबेलगुल

शुद्धाशुद्ध पत्रक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठ	शुद्धपाठ
२२	२६	खुशी करें	खुशी से करें
२३	११	स्यर्श	स्पर्श
२३	१३	संपादक जी	संपादकजी ने
२३	२७	पडगहने	पड़गाहने
२४	२	निषेध किया	निषेध या विधान किया
२७	२२	का शाटिका	शाटिका का
२८	२२	सन्निधी-	सन्निधि-
२६	१६	लिखना है	लिखना
३२	७	विधाथक	विधायक
३४	२२	श्रीजिनाभिषेक	श्रीजिनपूजा
३७	७	पायगें	पायेंगे
३७	६	उभयपथी	उभयपंथी
४५	६	न	ने
४६	१६	धर्मिक	धामिक
४६	१७	तिर्यचसदृश	तिर्यंचसदृश
४८	११	त्रिलोकहितक	त्रिलोकहितंकर
५३	१८	शम्त्राजी	शास्त्री जी
५६	१२	विद्वनों	विद्वानों
५६	२१	सद्धान्ति-	सैद्धान्तिक-
५६	३	स्त्रयों	स्त्रियों
६३	८	पूर्णतता	पूर्णतया
६६	१६	वर्णन	वर्णन
६८	१२	श्रावकों	अविरत सम्यग्दृष्टि श्रावकों
७२	२५	यन्त्र पूजन	यन्त्र का पूजन
७२	२४	पुजारी	वरबधू युक्त पुजारी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
७३	३	यदि कोई	कोई
८२	८	कहीं आगम	आगम
८३	१८	मत्रित्व	मंत्रित्व
८४	८	उच्छखल	उच्छृंखल
८४	१०	उच्छखंल	उच्छृखल
८५	१५	उच्छखल	उच्छृंखल
८६	६	सम्मतिं	सम्मतियाँ
८६	२३	परिणमन	परिणमन को
८९	२०	अपने	आपने
९५	१६	सिखना	सिखाना
९५	२५	निमूल	निर्मूल
९८	१३	उद्धहरण	उद्धरण
९९	७	पदाथ	पदार्थ
११२	२१	योजपित्री	योजयित्री
११८	२६	मूतियों	मूर्त्तियों
११९	१२	रोषारोपण	दोषारोपण
१२१	२५	ही	हो
१२३	११	पण्तिड	पण्डित
१२७	१५	अथ	अर्थ
१४९	९	आशांति	अशांति
III	२०	स्वग	स्वर्ग

VII	१०	नयी तोभी	नयी भी तो
XII	१८	खाद्यरुप	खाद्यरूप
XIII	१६	बात की	बात का
XVI	७	कहरा	ठहरा
XIX	१८	चामृताभिषेक	पचामृताभिषेक
XXI	२०	भिरेषेक	भिषेक
XXII	१७	स्वास्ति	स्वस्ति
XXIII	१५	गवेषण	गवेषणा
XXIII	२	जुममदिर	जुगमदिर
XXIV	१	XXVI	XXIV
XXIV	२४	शास्त्री	शास्त्रा

स्त्री प्रक्षाल क्या शास्त्र संमत है ?

स्त्रीप्रक्षालादि निषेध के समीक्षक जैनदर्शन के सम्पादक श्री पं० मक्खनलालजी न्यायालंकारके लेख की निःसारता—

मंगलाचरण

कृतानच्छसम्यक्त्ववैरिप्रहार- ।
स्फुरत्सद्विवेकामृतक्षालितांतः ॥
विरक्तः परिव्यालमुक्तः प्रयुक्तः ।
समाकारयाम्यत्र तं साधुमुच्चैः ॥१॥

स्त्री प्रक्षालादि निषेध नाम की पुस्तक को समाज ने कैसा अपनाया है इसकी सिद्धि तो पुस्तक की खपत से ही हो जाती है। और इसको समाज ने किस दृष्टि से देखा है, यह बात समूचे भारतवर्ष के चारों कोने से समर्थन रूप में आये हुए उन पत्रों से भलीभांति ज्ञात हो सकती है जो कि हमारी फाइल में हैं। परन्तु हमारे आदरणीय जैनदर्शन के सम्पादक निष्प्रमाण यद्वा तद्वा लिखकर ही अपने पत्र के छः कालमों को काला कर गये हैं। यही कारण है कि उन्होंने सप्रमाण लिखी हुई पुस्तक का भी कुछ मूल्य नहीं समझा और अपने निष्प्रमाण

लेख को न जाने किस भीतरी रहस्य के कारण मूल्यवान समझ लिया। क्या ऐसे थोथे लेखों से जैनदर्शन का कुछ भी मूल्य शेष रह सकता है।

सम्पादक जी के लेख का हेडिंग है "क्या स्त्री प्रक्षाल आदि शास्त्र से निषिद्ध है ? आगमों का विपर्यास करना उचित नहीं है"। इसके स्थान में सम्पादकजी को चाहिये तो यह था कि स्त्री प्रक्षाल के विधान में आर्षप्रणीत विधिमार्ग यह है और अपने दिये हुए प्रमाणों का अविपर्यास रूप में स्पष्ट अर्थ यह है ऐसा भी लिख देते तो प्रकृत विवाद वहीं पर शांत स्वरूप से ही स्थगित हो सकता था। परन्तु उन्होंने इस सन्मार्ग को तो छुआ तक भी नहीं और एकांगी पक्षपात से आक्रांत होकर अपनी चिरोषित भावनाओं की येन-केन प्रकारेण पुष्टि करने के लिए दृढ़-संकल्प हो उठे। अन्यथा वे हमसे बार २ स्त्री प्रक्षाल के विषय में निषेध क्यों मांगते ? जेन सिद्धान्त की क्या चलाई जैनेतर सिद्धान्तों में भी जिसका विधान नहीं है उसका निषेध माँगना हास्यास्पद है क्योंकि निषेध विधिपूर्वक हो होता है। आगमों का विपर्यास करना महाघृणित कार्य है इस बात को सभी एक मत से स्वीकार करते हैं। परन्तु हठवाद इस स्वीकृति को भुला भी तो देता है। पाठकों को ज्ञात होगा कि आज से २२-२३ वर्ष पहिले चर्चा सागर की कुछ लहरें प्रकाश में आई थीं। उस समय इस सागर की विष मिश्रित कतिपय तरंगों का भी समर्थन करने में सम्पादकजी महोदय क्या २ कर गये थे। तोभी सम्पादकजी ने स्वयं यह लिखकर कि "मैंने अभी तक गोबर से आरती नहीं की है" अपने को तो दूध से धुला हुआ साफ ही रक्खा था। इससे साफ मालूम होता है कि हाथी के भीतरी दाँत खाने के लिए और ही होते है और जो बाहर निकले रहते हैं

वे तो केवल दिखाऊ ही होते हैं। दूसरों के लिए नादिरशाही फरमानों को विधेय बताकर अपने को अलिप्त रखने वाले व्यक्ति की कलम से क्या आगम विपर्यास होना असंभव है ?

यह तो पुरानी बात है अब वर्त्तमान प्रगति पर भी पाठकों को ध्यान देना चाहिये। श्री भूतबलि, पुष्पदंत आचार्यों ने श्रीषट्खंडागम सिद्धान्त को रचा। और अत्यन्त गूढ़ार्थ होने के कारण भविष्य में अल्पज्ञों की समझ में उसका पूरा विवरण न झलक सकने की सम्भावना को हृदयंगत करके श्री वीरसेनाचार्य जी ने षट्खंडागम सिद्धान्त ग्रन्थों पर धवला आदि बड़ी २ टीकाओं की रचना की। जिस समय श्री वीरसेनाचार्य इस सिद्धांत ग्रन्थ की टीका लिख रहे थे उस समय उन के सामने सत्प्ररूपणान्तर्गत ९३ वें सूत्र में संजद शब्द अवश्य था और अभी भी प्राचीनतम प्रति में मौजूद है। अन्यथा श्रीवीरसेन स्वामी इस प्रकार की टीका "हुण्डावसर्पिण्यां स्त्रीषु सम्यग्दृष्टयः किन्नोत्पद्यन्त इति चेन्न, उत्पद्यन्ते। कुतोऽव सीयते ? अस्मादेवार्षात्। अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृत्तिः सिद्ध्येदिति चेन्न, सवासस्त्वादप्रत्याख्यानगुणस्थितानां संयमानुपपत्तेः। भावासंयमस्तासां सवाससामप्यविरुद्ध इति चेत्, न तासां भावसंयमोऽस्ति भावासंयमाविनाभाविवस्त्राद्युपादानान्यथानुपपत्तेः" क्यों लिखते। इस से स्पष्ट सिद्ध है कि ९३ वें सूत्र में संजद शब्द का सद्भाव भी द्रव्य स्त्री के लिए मोक्ष विधायक नहीं है। तिस पर भी नाना प्रकार की युक्तियों के द्वारा या प्रकरण परिवर्त्तनादि समझा कर ९३ वें सूत्र से संजद शब्द का पार्थक्य

बताना उचित तो नहीं है। कहाँ तक लिखा जाय प्राचीन प्रति में संजद मिलजाने पर भी संतोष तो हुआ ही नहीं। आपकी भांति यदि संजद रहने से पूज्यवाद वीरसेनाचार्य जी को द्रव्य स्त्री के लिये मोक्ष सिद्धि की आशंका होती तो क्या नाना प्रकार की युक्तियों के बल पर वे तथा तत्कालीन अन्य ऋषिगण ९३ वें सूत्र में पड़े हुए सजद शब्द का पार्थक्य सिद्ध करने में अक्षम थे? और क्या वे आधुनिक योगियों के इन्द्र या आधुनिक चारित्र धारियों के चक्रवर्त्ती भी नहीं थे? वे थे तो सब कुछ, परन्तु उनके हृदयों में आगम विपर्यास का बड़ा भारी भय था। इसी लिए उन्होंने अपनी क्रमागत गुरुपरंपराथ के विरुद्ध कुछ भी नहीं लिखा। परन्तु अब पारस्परिक कषायों का उद्रेक सभी कुछ करा रहा है। यदि इस आंदोलन मे कषायाभाव है तो न्यायालकार एव वाचस्पति महोदय दोनों ही माध्यस्थ भाव रखकर श्री आचार्य शांतिसगार जी के चरणों की शरण में जाकर आगमविपर्यास के भय पूर्वक अपनी २ युक्ति एवं आगमों की साक्षी देकर इस जटिल ग्रन्थि को क्यों नहीं सुलटा लेते हैं। दोनों एक ही गुरु के चेले हैं और दोनों ही सिद्धान्त निष्णात महाविद्वान् है, तथा दोनों ही पृथक् २ रूप में आचार्य चरणकमलों के वर्षों तक चंचरीक बन चुके हैं। ये सभी कुछ होते हुए भी दोनों ही सन्मार्ग प्रतिपादक हैं। ये बात तो सशंक ही है। अब रही इन शंकनीय बातों की दृढ़ता, वह या तो अलंकार में है या वाचस्पति मे है, इस का निर्णय जब होगा तब होगा। अभी तो उभयत्र संदिग्धता ही है। अब पाठकगण विचार करें कि कषायावेश ने क्या २ विपर्यास नहीं किया है और न जाने आगे और भी क्या २ होगा। हमें याद है कि

सम्पादक जी ने धवलादि सिद्धांत ग्रन्थों के पठन पाठन के लिए ऐदंयुगीन गृहस्थों को अपात्र सिद्ध किया था जो कि समुचित भी था, परन्तु वह भी तो श्रुतज्ञान की परार्थता ही सिद्ध हुई। यदि उस पर स्वयं भी अपना कुछ ध्यान रहता तो बहुत संभव है कि संजद शब्द की चर्चा का मूलक बनने का मौका कम से कम संपादक जी को तो नहीं मिलता। परन्तु होता वही है जो भगवान् ने देखा है।

"इसका मूल्य कुछ नहीं है।" इसके स्थान पर यह पुस्तक बिना मूल्य वितरण की जा रही है इस प्रकार के सीधे शब्द क्या संपादकजी के शाब्दिक भण्डार में अनुपस्थित थे? परन्तु नवकंबलवत् छलिया शब्दों के प्राबल्य से डर कर सीधे शब्दों ने अपनी अनुपस्थिति को ही श्रेयस्कर समझा होगा।

आर्ष ग्रन्थों में स्पष्ट विधान है कि बिना यज्ञोपवीत धारण किये कोई भी आहारदान एवं जिनाभिषेक नहीं कर सकता, तो इन बातों के निषेध में हमको ही क्यों अगुआ समझा गया है? क्या सम्पादकजी महोदय आर्षग्रन्थों से यह सिद्ध कर सकते हैं कि बिना यज्ञोपवीत धारण किये कोई भी इन पुण्य कार्यों को कर सकता है? हमारी लेखनी ने मनमाना एक अक्षर भी नहीं लिखा है, जो कुछ भी लिखा है सप्रमाण ही लिखा है। तिसपर भी हमारी लेखनी को चलती कहा गया है जो कि सर्वथा अयुक्त है।

बड़े २ त्यागियों, श्रीमानों एवं विद्वानों की सम्मति छपाने के आधार पर हमारी ओर की तो शास्त्रों की लापरवाही बता दी गई है, परन्तु जो अपने इसी लेख में सम्पादकजी ने स्वयं ही एक महापुरुष की साक्षी दे डाली है वह क्या सम्पादकजी

की लापरवाही नहीं है ? इसी को कहते हैं कि दूसरों की आँख में तो फुल्ली भी दिख जाती है और अपनी सफाचट भी नहीं दिखती। जब सम्मतियों से आगम की कीमत घट ही जाती है तब समय २ पर बार २ और इसी लेख में भी संपादकजी महाराज स्वय ही साक्षी देकर आगम का उपहास क्यों किया करते है ? आखिर कषायावेश भी तो कुछ शक्ति रखता ही है। यही कारण है कि पं० मनोहरलालजी के द्वारा लिखित ट्रैक्ट में न्यायालंकारजी की सम्मति तो आगम प्रमाण की पूर्ण परवाह कर गई और हमारे ट्रैक्ट पर बड़े २ विद्वान् त्यागी एव श्रेष्ठिवरों की सम्मतियाँ आगम प्रमाणता की थोड़ी सी भी परवाह न कर सकीं।

हमारी समूची पुस्तक में एक पक्ष या दूसरी पक्ष का कोई उल्लेख नहीं है। परन्तु सम्पादक जी महोदय स्वयं किसी एक पक्ष के रंग में इतने आकंठ निमग्न हो गये हैं कि आर्षमार्ग को एक पक्षीय लिखने पर उतारू हो गये है। यदि वस्तुतः सपादकजी की दृष्टि में जैनदर्शन का कुछ भी मूल्य होता तो व्यर्थ की पक्ष चर्चा का प्रारम्भ आपकी लेखनी से क्यों होता ? बड़े दुःख की बात है कि आप स्वयं तो प० मनोहरलाल जी के ट्रैक्ट में अपनी सम्मति छपा चुके है और जब हमारी ओर से सम्मतियाँ छपी हैं तब आप को आगम की अप्रमाणता का बोध हुआ है। धन्य है आपकी निष्पक्षता या उभयपक्षीय उदासीनता को।

संस्कारों में आया हुआ विवाद आगम से भी मिटाया नहीं जा सकता तो फिर आपने ही स्वयं जैन दर्शन के छः कालमों पर स्याही क्यों पोती। क्या आपने अपनी दो जिह्वा वाली लेखनी को आगम की अखंडैक धारा से भी बढ़कर

महत्व-शाली समझ रक्खा है ? यदि वस्तुत. ऐसा ही हो तो यह प्रज्ञामद शांतिदायक कदापि नहीं हो सकता है। हमारी दृष्टि में तो यह आपकी निजी चीज तो नहीं होनी चाहिये। शायद इस प्रज्ञामद को कोई विशिष्ट शक्ति की प्रेरणा ही पनपा रही हो। सत्यार्थ आगम की शुद्ध झाँकी से जबकि अनंतानंत भव्य जीव अपना असीम उद्धार कर चुके हैं, कर रहे है और भविष्य मे भी करते ही रहेंगे तब आप उस आगम को इस तुच्छ सांस्कृतिक विवाद को मिटाने के लिए अकिंचित्कर क्यों कह रहे है।

हमने भावसंग्रह का सदैवाशुद्धता ० आदि श्लोक लिखकर यह सिद्ध कर दिया है कि स्त्रियों की योनि में से ऋतु काल के अतिरिक्त समय में भी सतत रजस्राव होता रहता है। इससे वे व्रतों के चिह्न यज्ञोपवीत को धारण नहीं कर सकतीं हैं और बिना यज्ञोपवीत को धारण किये जिनाभिषेकार्थ योग्यता का अभाव है। इसमें भी अनेक प्रमाण दिये हैं तिसपर भी आप लिखते हैं कि हमें ट्रैक्ट भर में एक भी स्त्री प्रक्षाल निषेध का प्रमाण नहीं मिला। अस्तु, हमारे लिखे प्रमाणों का प्रभाव आप के पक्के रंग पर नहीं पड़ा तो नहीं सही। कृपानाथ, आप के ही समूचे लेख में स्त्रीप्रक्षाल विधायक सैद्धान्तिक विधान कौन सा लिखा है ? कमसे कम आपको तो अपने जैनदर्शन में स्त्रीप्रक्षाल विधायक सैद्धान्तिक विधान लिखना चाहिये था। अभी तक जितने भी स्त्री प्रक्षाल के समर्थन में ट्रैक्ट निकले हैं, उपदेश एवं आदेश हुए हैं या हमें बड़े २ साधुओं, ब्रह्मचारियों, श्रेष्ठों और विद्वानों के साथ परामर्श करने का सुयोग मिला है, कहीं भी स्त्रीप्रक्षाल विधायक विधि को पढ़ने, सुनने एवं देखने का भी सुअवसर नहीं मिला। साक्षी, उदाहरण, उलाहना, उपहास आदि की

तो भरमार पाई परन्तु आर्ष प्रमाण एक भी कहीं से नहीं दिया गया। इसके अतिरिक्त हमारे दिये हुए प्रमाणों पर ध्यान न देकर केवल मखौल उड़ाई गई। तब हम कैसे समझें कि स्त्री प्रक्षाल आगम सिद्ध है।

प्रथम तो भावसंग्रहकारने गलन्मलाश्रयत्वत: हेतु देकर सदैव ही स्त्रियों की योनि को अशुद्ध स्पष्ट प्रतिपादन किया है, इसमें तो किसी रोग एवं आयु की शर्त्त भी नहीं है। दूसरे स्त्रियों की योनि आदि गुह्यांगों मे असख्य सम्मूर्च्छन सेनी मनुष्यों का सतत उत्पाद विनाश अनेक सिद्धान्त ग्रन्थों में भी कहा ही गया है। क्या यह सभी वर्णन केवल स्त्रियों से पुरुषों को विरक्त रहने के लिए ही कहा गया है? क्या यह विरक्त रहने का उपदेश केवल पुरुषों के लिए ही विहित है? स्त्रियों के लिए विरक्त रहनेका उपदेश नहीं है? यदि यह विरक्ति उपदेश स्त्रियों को भी उपादेय है तो पुरुषों से विरक्त रहने के लिए पुरुषों के भी गुह्यांगों में सन्मूर्च्छन मनुष्यो का उत्पाद विनाश आचार्यों को करना चाहिये था सो नहीं किया गया। इससे स्पष्ट है कि सदैवाशुद्धता योनौ आदि श्लोकद्वय केवल विरक्ति परक ही नहीं है, संयमाभाव परक भी है। इसी प्रबल कारण के आधार पर दोनों प्रकार के संयम भावना की अयोग्यता स्त्रियों में दर्शाई है। संपादकजी प्रौढ विद्वान् है तो इस लिये नहीं कि यद्वा तद्वा समझा कर जनसाधारण को गुमराह कर दें। स्त्रियों से विरक्ति का पाठ दूसरों को पढ़ाते हुए भी सम्पादकजी स्त्रियों के पक्षपाती एवं वकील बनकर लिखते है कि स्त्रियाँ तो केवल मासिक धर्म के समय में ही अशुद्ध रहती हैं और भावसंग्रह सदैव अशुद्ध लिखता है। ऐसी हालत में पाठक गण स्वयं ही निर्णय कर लें कि

आगम विपर्यास कौन कर रहा है। इसके अतिरिक्त सम्पादक जी ने यह भी लिखा है कि पुरुष भी तो प्रतिदिन मलमूत्र क्षेपण करता है। उसकी नासिका से मलस्राव, मुख से श्लेष्मा निकलती ही रहती है। क्या खूब, इसी के साथ सम्पादक जी को चाहिये था कि इतना और भी लिख देते कि मलमूत्र, खखार निकलने के दरवाजे स्त्रियों के सतत बन्द ही रहा करते हैं। बस, तब तो हमारी लेखनी यहीं पर बंद हो जाती। संभव है कि समस्त कानूनी पुस्तकों में वकील साहिब को इस लौ का पता नहीं चला होगा, तभी तो वकालत में पारंगत नहीं हो सके। प्रसंगवश हम स्त्रियों को भी परामर्श देते हैं कि उन्हें यदि हर एक बात में पुरुषों की बराबरी करनी इष्ट हो तो अब की पेशी पर किसी अच्छे बैरिष्टर को खड़ा करें। और सम्पादक जी को चाहिये कि जब इस प्रकार प्रमाण शून्य ही लिखना है तो यह भी लिख दें कि स्त्रियों के समान पुरुषों के भी गुह्यांगों में पचेन्द्रिय संज्ञी सम्मूर्च्छन मनुष्य सतत जन्मते और मरते भी रहते हैं। श्री आचार्य अमृतचन्द्र जी ने तो बहवो जीवा योनौ ही लिखा है आप एक और श्लोक बना कर प्रकाशित कर देते कि "बहुसत्त्वा मेहने संति" पूरी बराबरी तो तभी होती। क्योंकि आप साधुओं के नहीं तो न सही एक उच्चतम विद्यालय के तो आचार्य हैं ही। पुरुषों की भांति स्त्रियाँ भी सचेल एवं शिर से स्नानादि कर के शुद्ध हो सकती हैं। इस समानता का भी वही हाल है। नीरोग पुरुष तो स्नानान्तर कुछ समय तक शुद्ध रह भी सकता है क्योंकि उस के मल मूत्रादि को सतत स्रवित होते रहने का विधान भी तो नहीं पाया जाता है।

परन्तु स्त्रियों की योनि से सतत स्रवित होने वाले मल का विधान भावसंग्रह में उक्त प्रकार से स्पष्ट उल्लिखित है। और इसी कारण स्त्रियों को यज्ञोपवीत की अपात्रता है तथा जैन जैनेतरों में यह बात प्रचलित भी नहीं है। अनेक शास्त्रों में स्पष्ट विधान है कि यज्ञोपवीत के बिना कोई भी प्रज्ञाल नहीं कर सकता है। ऐसी हालत में स्त्री प्रज्ञाल का समर्थन करना बेतुकी सूझ है या विधान के अभाव में केवल उदाहरणों के आधार पर मनमानी विधि, इसका निर्णय पाठक ही करें। इसी सिलसिले में एक और विचारणीय बात सम्पादकजी लिख गये हैं कि "सहधर्मिणी के नाते पुरुष के दो यज्ञोपवोत फिर क्यों बताए गये हैं? जब कि स्त्रियों को जिनाभिषेक एवं मुनि आहार दान देने का अधिकार ही नही है"। सम्पादकजी ने महापुराण में यह उल्लेख अवश्य देखा होगा कि यज्ञोपवीत ११ तक धारण करने का विधान है। ऐसा विधान क्यों है इसका भी खुलाशा वहीं पर स्पष्ट मिलेगा। सम्पादकजी को यदि दूसरे यज्ञोपवीत के आधार पर पति की सहधर्मिणी को जिनाभिषेक एव आहारदान करने की विधि इष्ट है तो तीसरे से ग्यारहवें तक के ६ यज्ञोपवीतों के आधारों पर अपनी सहधर्मिणी को पतिदेव और कौन २ नौ अधिकार दे डाले? यदि इन नौ अधिकारो का भी सम्पादकजी विस्तार कर देते तो सम्भभव था कि स्त्रियाँ पुरुषों के भी पैतरे मार जातीं।

स्त्रियाँ बडे २ तप त्याग एवं चतुर्थगुणस्थानीय उपचरित महाव्रतों को तो स्वयं धारण कर ही लेती हैं। हाथों, पावों, गलों, कमरों, और शिरों की कौन चलाई कानों और नाकों सरीखे कोमलागों में भी अनेकानेक प्रकार के बजनी आभूषणों को तो स्वयं ही पहिन लेती हैं और यज्ञोपवीत

सरीखे लघुतर भार को रखने में असमर्थ हो कर अपने पति के सुदृढ़ कंधों पर क्यों थोप देती हैं। हमारी समझ में तो इसका भी तरी रहस्य कुछ और ही मालूम होता है और वह है सर्वकालीन अशुद्धता। अन्यथा स्त्रियाँ अपने २ यज्ञोपवीतों को अपने २ पतियों को क्यों सौंप देतीं ? इसका भीतरी रहस्य विद्वान् सम्पादकजी नहीं समझते हैं, यह तो त्रिकाल में भी संभव नहीं, तोभी न जाने किस पक्षव्यामोह या आदेश के सहारे सत्य बात को भी स्वीकार करने में हिचकिचाते हैं और स्त्रियों को उन्मार्ग पर चलने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। इतने पर भी यदि सम्पादक जी को प्रसन्न रखने के ध्यान से उन के द्वारा विहित मार्ग को स्वीकार कर लिया जाय तो जिन १८-२० वर्षीया या इस से भी अधिक आयुवाली कन्याओं जिनका अभी तक विवाह भी नहीं हो पाया है, उनके यज्ञोपवीतों का भारवाहक कौन समझा जायगा ? क्या वे बिना यज्ञोपवीतों के ही पुण्य कार्य कर सकेंगी ? या आजन्म ब्रह्मचारिणियाँ अपने २ यज्ञोपवीतों के भारवाहकों के अभाव में भी बिना यज्ञोपवीतों के ही पुण्य कार्य करने की अधिकारिणियाँ समझ ली जायगी ? या दैवदुर्विपाक से जिनको वैधव्यता ने धर दबाया है उन कुलीन स्त्रियों की क्या व्यवस्था होगी ? या जिन पुरुषों के अनेक सहधर्मिणियां हों तो क्या उन्हें भरतचक्रवर्ती के समान ९६००० स्त्रियों के यज्ञोपवीतों को ढोने के लिए कोई दशवीं निधि खोजनी होगी ? या जिन पुरुषों की सहधर्मिणियां कालकवलित हो गई हों वे अपनी सहधर्मिणी के दूसरे यज्ञोपवीत को गंगा की गोद में बैठा

कर पूजा एवं दान कर्मों से बंचित ही होकर अपने शेष जीवन को यों ही पशुवत् गंवा देंगे। क्यों कि "यज्ञोपवीते द्वे धार्ये पूजायां दान कर्मणि" यह प्रसिद्ध विधान है। क्या सम्पादकजी महोदय यह भी बतलाने का कष्ट करेंगे कि स्वयं कितने यज्ञोपवीत धारण किये हुए हैं और नित्य जिनाभिषेकार्ह एवं मुनि आहारदानार्ह भी आप है या नहीं। क्योंकि इन प्रश्नों के स्पष्टी करण के अभाव में पाठक गण यथेष्ट निर्णय तक नहीं पहुँच सकते हैं। हमारी राय मे तो इस असामञ्जस्य के झगड़े में पड़कर अपनी शक्ति एवं समय का दुरुपयोग करना ही है। कृपानाथ दयाकर स्त्री प्रक्षाल विधायक सप्रमाण विधान बतला कर इस पारस्परिक लेख व्यवहार को स्थगित कर दीजिये, यही स्वपर श्रेयस्कर है। आप की लेखनी से कई बार लिखा जा चुका है कि सद्युक्ति एव सत्तर्क वही है जो आपमार्गानुसारिणी हो। तदतिरिक्त युक्तियाँ एवं तर्क समीचीनता से परे ही रहती हैं, अर्थात् केवल युक्त्याभास एवं तर्काभास ही है। और उनसे कभी भी स्वपर का कल्याण नहीं हो सकता है। इसी प्रकार विना विधान बतलाए सर्वत्र प्रचलित पद्धतिया भी कसौटी पर पहुंचते ही फीकी ही उतरती हैं। विज्ञ साधुगण भी स्त्रियों के हाथ से आहार लेते हैं यह लिखना भी विधानाभाव में कुछ भी मूल्य नहीं रखता है। यदि कलिकालीन साधुगण ग्रामनिवास, वस्त्रकुटीरावास, केवल अपने ही उपयोग में आने वाले काष्ठमय सुन्दर सिंहासन पर बैठना, पीछे में घड़ी एवं बक्सों की चावियों को रखना, अंजन लगाना, शस्त्रचिकित्सा कराना, स्वयं मलहम लगाना या साथ

में रखना, पीकदान इस्तेमाल करना, स्त्रियों द्वारा पगचप्पी कराना, अपने चरणों पर चंदनादि लेप करने के लिए प्रेरणा करना, अपने नाम की संस्थाओं के लिए चंदा करना, पुआर से वेष्ठित होकर सोने बैठने की लालसा से उसे साथ ले चलने के लिए स्वयं कहना, नौकरों का हिसाब रखना, केवल एक ही स्त्री के हाथों से महीनों तक १ ही चौके में आहार लेते रहना आदि आदि क्रियाओं को करते हुए भी जीती जागती उपहास्यास्पद अवस्था में देखे या सुने जाते हैं, तो क्या साधुगण की उपर्युक्त चर्याएं सैद्धान्तिक रूप धारण कर सकती हैं? संपादक जी केवल साधु चर्या की साक्षी से ही सफल मनोरथ नहीं हो सकेंगे। यद्यपि श्रेष्ठ साधुओं की पुनीत चर्याएं भी तरण तारिणी और भव्यजीवों को निरन्तर आदरणीय एवं आचरणीय हैं तोभी साधुओं में श्रेष्ठता और उनकी चर्या में पुनीतता का मूलसाधक तो आर्षमार्ग ही है। साधु और उनकी चर्या आगमाश्रित है, आगम, साधु एवं उनकी चर्या के आश्रित नहीं हैं। इसी सिद्धांत की पुष्टि जिनेन्द्रसिद्धान्तयतीन्यजेऽहं यह क्रमागत पाठ भी करता है। बड़े से बड़े आगम प्रणेता वीतराग आचार्य किसी की जीवनी में उसकी सभी क्रियाओं एवं सभी आचरणों का वर्णन करते हुए चाहें हजारों बार भी स्त्रियों के द्वारा कर लिये गये प्रक्षालों का उल्लेख कर गये हों और विधान न लिखा हो तो उनके चरित्रों के दिग्दर्शन रूप उदाहरण न तो विधान माने जा सकते हैं, और न अनुकरणीय ही ठहराये जा सकते है।

"अनेक देवांगनाओं विद्याधरियों कर्मभूमि की स्त्रियों ने

भगवान् का अभिषेक किया है ऐसा स्पष्ट लेख है" यह लिखना भी युक्ति संगत नहीं है साक्षात् अर्हन्त भगवान् का अभिषेक विद्याधरी देवी कर्मभूमिज स्त्रियों को कौन चलाई इन्द्र खगेन्द्र और नृपेन्द्र भी नहीं कर सकते हैं और न उनका अभिषेक हो ही सकता है क्योंकि जिस क्रिया का साधु अवस्था के प्रारंभ में ही त्याग कर दिया है उस क्रिया का स्नातक दशा में भी होना असंभव है। प्रकरण में तो भगवान् की प्रतिमा के अभिषेक की चर्चा है। सो न बताकर भगवान् का अभिषेक बताया जाता है। यह तो सत्य नहीं है, इसी प्रकार जन्मकल्याणकीय या निष्क्रमणकल्याणकीय अवस्थाओं के आधार पर प्रतिमाभिषेक का समर्थन करना भी ठीक नहीं है। इन अवस्थाओं के अभिषेकों के सहारे यदि प्रतिमाभिषेक की मान्यता इष्ट हो तो उन अवस्थाओं में तो उबटन लगाना, स्नानानन्तर वस्त्राभूषण पहिनाना, अंजन लगाना आदि क्रियाओं को देवांगनाएं करती हैं। तो क्या इन सभी क्रियाओं को प्रतिमाओं में करने का प्रसंग निवारा जा सकता है ? यदि इन क्रियाओं का प्रतिमाओं में होना इष्ट नहीं है तो केवल स्नान ही क्यों इष्ट हो सकता है ?

न्यायालंकार जी बार २ लिखते हैं कि समूची पुस्तक में एक भी प्रमाण स्त्री प्रक्षाल के निषेध का नहीं है, हमने तो समूची पुस्तक में आगम प्रमाण दिये हैं उन्हें न जाने सम्पादकजी ने क्यों नहीं देखे ? और न स्वयं भी अभी तक १ प्रमाण भी विधि रूप में लिखा है। केवल समय की प्रतीक्षा कर रहे हैं, एवं हमें अपने पास बुला रहे हैं! यदि हमें समझाने की सद्भावना से बुलाते तो इस लेखी रेस को प्रारंभ करने के पहिले ही बुला लेते। और हमे सप्रमाण समझा देते कि

आप ने यह भूल की है। या इस प्रकार से आप का कार्य अच्छा नहीं हुआ है। अभी भी समझ जाओ ऐसी भावना होती तो हम उनके इशारे के अनुसार फौरन 'मुरैना' ही नहीं उनके हर एक अभीष्टस्थान में पहुंच ही जाते। और यदि अब भी इसी भावना से बुलावें तो हम अभी भी उनके पास पहुंच ने के लिए तैयार हैं। परन्तु वे तो पहिले ही अखबारों में छाप कर पीछे से बुला रहे हैं। अस्तु ऐसी अवस्था में भी यदि वे हमें अपने पास बुलाना ही चाहते हैं तो हम भी सहर्ष आने के लिए तैयार ही हैं। परन्तु उन्हें चाहिये कि वे पहिले ही ओप्रचाल विधायक आर्ष विधानों को खोजकर तैयारी करलें और इस की सूचना हमें १ कार्ड द्वारा देदें। अन्यथा हम उन के पास पहुँच जॉय और तब वे हमारे सामने वही उदाहरण मालाएँ और साधुओं के आदेशों को रखदें तो हमारा उनके पास जाना सफलीभूत तो नहीं होगा। और रॉची से सुदूर 'मुरैना' तक की दुतर्फा दौड़ जनित परिश्रम एवं आर्थिक व्यय व्यर्थ होगा। आप बुलावें, समझावें, और हम न आवें या न समझें यह तो त्रिकाल में भी होने की सम्भावना नहीं है, क्योंकि आप का हमारे ऊपर ऐसा ही धार्मिक गाढ स्नेह है। "पंचामृताभिषेक का विधान पूज्यपाद विद्यानंदि अकलंक देव सोमदेव देवसेन जिनसेन गुणभद्रादि अनेक आचार्यों ने किया है" ऐसा लिखना या कहना तो तब ठीक समझा जा सकता है जब कि यह स्पष्ट लिखा जाय कि पूज्यपाद के किस ग्रन्थ के किस प्रकरण में या अधिकार में कौनसा क्या श्लोक है इसी प्रकार अन्यान्य आचार्यों की कृति का भी विस्तृत विवरण लिखा जाय। और साथ ही साथ यह भी स्पष्ट किया जाय कि कौन २ आचार्य किस २ संघ में किस २ समय में हुए हैं तभी तो पूरा पता लगने पर उनके बचनों की प्रमाणता मान्य

हो सकती है। क्योंकि "वक्तृप्रामाण्यात् वचनस्य प्रामाण्यं" ऐसी सिद्धान्त विधि है यह भी खुलाशा करना इसलिए आवश्यक है कि वर्त्तमान काल में अनेक आधुनिक कृतियों को पूर्वाचार्यों के समान नामधारी व्यक्तियों के द्वारा रचित बतलाने का मार्ग बे रोकटोक चल पड़ा है। पंचमृताभिषेक का आदिपुराण आदि आर्षग्रन्थों में विधान न होना क्या निषेध सूचक नहीं है। हमने अपने ट्रैक्ट में स्पष्ट लिखा है कि जो लोग यह कह कहते हैं कि शुद्ध जलाभिषेक का कहीं भी विधान ही नहीं है उन्हें इन प्रमाणों पर ध्यान देना चाहिये। जब प्रतिवादियों के द्वारा अभिमत ग्रन्थों में भी जलाभिषेक मौजूद है तो प्रतिवादी को उसका निषेध तो नहीं करना चाहिये। प्रतिवादियों को सरलतया समझाने के लिए प्रतिवादियों के द्वारा अभिमत ग्रन्थों को अंश रूप में ही वादी उल्लेख करता है तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वादी की दृष्टि में प्रतिवादी के अभिमत ग्रन्थों की पूर्णतया मान्यता हो जाय।

स्त्री प्रक्षाल का प्रचार कैसे हुआ ?

हम इन्दौर में पूज्य गुरुवर्य पं० लालाराम जी शास्त्री मैनपुरी वालों से सन् १६१४ में पढ़ते थे। उस समय आदि पुराण की टीका प्रकाशित हो चुकी थी। उस समय उत्तर प्रान्त में स्त्री प्रक्षाल की एवं पंचामृताभिषेक की कोई चर्चा नहीं थी जिसको पसन्द होता पंचामृताभिषेक कर लेता था अन्यथा प्राय: सर्वत्र ही शुद्धजलाभिषेक ही प्रचलित था। इसी प्रकार स्त्री प्रक्षाल की चर्चा भी नहीं थी, कचित् कदाचित् कोई एकाध स्त्री कहीं पर प्रक्षाल कर लेती हो तो दूसरी बात है। और हमें जहाँ तक स्मरण है सम्पादकजी ने भी शायद ही कहीं पर

पंचामृताभिषेक किया हो, या स्त्री प्रक्षाल का समर्थन भी किया हो। सन् १६२५ या २६ से दक्षिणप्रान्त से साधुओं का विहार उत्तरभारत की ओर विशेषतया होना प्रारम्भ हुआ। उस समय उत्तर हिन्दुस्तान में यज्ञोपवीत बाहुल्यतया प्रचलित हुआ और बहुत से सज्जनों ने शूद्र जल का भी त्याग किया। और कुछ २ उत्तरभारत में दक्षिणी प्रथाओं का अनुसरण होने लगा। हालाँकि अज्ञात समय से लेकर अभी तक भी दक्षिणप्रान्त के मन्दिरों के गर्भगृहों में स्त्रियों के प्रवेश पर प्रतिबन्ध पाया जाता है। जिसे कि श्रवणबेलगुल के भट्टारक श्री चारुकीर्त्ति महाराज ने अपने पत्र में स्वीकार किया है। उनके पत्र की नकल को इसी पुस्तक में आगे प्रकाशित किया गया है, तोभी कुछ त्यागियों की प्रेरणा से उत्तरभारतीय जनता में स्त्रीप्रक्षाल का अंकुर उग उठा। उस समय अलीगढ निवासी स्वर्गीय पं० प्यारेलालजी आदि पुराने विद्वानों की आम्नाय का उत्तर प्रान्त में प्राबल्य था। कुछ समय बाद पं० प्यारेलालजी स्वर्ग सिधार गये। और उनके सुपुत्र पं० श्रीलालजी पाटनी अलीगढ़ ने त्यागी गुरुओं से प्रोत्साहित होकर सबसे पहिले स्त्रीप्रक्षाल के समर्थन रूप में एक ट्रैक्ट निकाला। इस प्रकार से स्त्रीप्रक्षाल के आदि प्रचारक पं० पाटनी जी हुए। परन्तु अपने पूज्य पिताजी के समक्ष या धर्मधीरता पाने के पहिले तक इन्होंने भी कुछ नवीन बात नहीं प्रकाशी। वीतरागी गुरुओं की कृपा से धीरे २ यह प्रथा पनपती रही। इसके बाद सम्पादकजी ने सन् १६२६ या २७ में गाय के ताजे गोबर से परमपावन भगवान की आरती करने का समर्थन किया। यह भी श्रुतज्ञानीय परार्थ प्रमाण से। क्योंकि इन्होंने उसी समय अपने ट्रैक्ट में स्पष्ट छाप दिया कि "मुझे गोबर से आरती करने का मौका नहीं मिला तोभी आगम विहित मार्ग का निषेध नहीं किया जा सकता। अब पाठक ही

विचार करे, कि सम्पादकजी को ताजे गोबर की प्राप्ति तो असम्भव नहीं थी, और विना आर्थिक कष्ट उठाये ही आगम के प्रचार के साथ आगमानुकूल अपना आचार भी सरलतया सुधार सकते थे, तोभी इन्होंने अपने को बाल-बाल बचा ही लिया। इसका भीतरी रहस्य भगवान जाने क्या था ? अन्यथा स्वयं न तर कर दूसरों के तारने में ही सीमातीत व्यग्र हो जाना कोई मामूली बात नहीं है। अस्तु येन केन प्रकारेण वह युग भी निकल गया। तत्पश्चात् एक महान् तपस्वी के प्रभाव से प्रेरित होकर स्वर्गीय श्रीमान् सेठ चैनसुखदासजी पाण्ड्या कलकत्ता निवासी के सहोदर भाई श्रेष्ठि गंभीरमलजी के द्वारा पं० श्रीलालजी पाटनीजी के लगाए हुए अंकूरे को पौधे का रूप मिला। अर्थात् सेठ गंभीरमलजी की प्रेरणा से पं० मनोहरलाल जी के द्वारा लिखित पुस्तक ने उक्त पौधे की जड़ों में शीतल गंगाजल के सिंचन का कार्य किया। बहुत सावधानी रखते हुए भी प्रौढ़ माली की असावधानी से गंगाजल में कुछ दूषित जलकणों का सम्मिश्रण हो गया। अर्थात् उसी पुस्तक में उद्धृत भरतेश वैभव मे भरतकृत अभिषेक के समय स्त्रियों को जिनाभिषेक से अलग ही रहना लिख गया। इसीको कहते है कि "सदाकत छिप नहीं सकती बनावट के उसूलों से, खुशबू आ नहीं सकती कभी कागज के फूलों से" परन्तु उस समय वह पौधा कुछ ज्यादा बढ़ गया था इस लिये उक्त दूषित जलकणों से पर्याप्त जागृति नहीं हो सकी। थोड़ा और आगे बढ़कर साधुओं के संघ में रहनेवाले कुछ त्यागी स्त्री पुरुषों ने ११ वीं भक्ति के रूप में यह प्रतिज्ञा कर ली कि जो स्त्री भगवान का प्रक्षाल करने की प्रतिज्ञा नहीं लेगी उसके हाथ से हम

आहार नहीं लेंगे। एक मुनि महाराज तो स्त्रीप्रक्षाल के प्रचार में यहाँ तक आगे बढ़ गये हैं कि जब तक स्त्री के द्वारा किये हुए प्रक्षाल को देख नहीं लेते हैं तब तक गोचरी चर्या भी प्रारंभ नहीं करते हैं। पाठक विचार करें कि जो अबलाएं वर्षों से आहार देती आई थीं उनके सिर पर इतना दबाव डाला गया तब वे विवश होकर इस नई प्रथा को अपनाने लगी। इस स्वर्णावसर के उपयोग से सम्पादकजी भी स्त्रियों में दान देने की प्रधानता का समर्थन करने लगे। अब पाठक अच्छी तरह से समझ गये होंगे कि इस स्त्री प्रक्षाल को किसने प्रोत्साहन दिया। क्या इससे यह बात सिद्ध नहीं होती है कि इस निरागम प्रथा को चलाने में हमारे पूज्य साधुगण का ही प्रधान हाथ है। अर्थात् यह प्रवृत्ति निवृत्तिमार्गियों के द्वारा ही पनपी है। ऐसी हालत में सत्य बात पर प्रकाश डालना क्या कोसने या उपालम्भ देने की चीज है ? हर्गिज नहीं। इस का स्पष्ट अभिप्राय यह है कि स्त्रियों को प्रक्षालार्थ प्रोत्साहित करना समुचित नहीं है।

हमें तो दुःख इस बात का है कि कालेजों में कन्या, कुमारों के सहयोग में मिलने वाली शिक्षा का एकान्ततः विरोध करने वाले मर्यादापोषक विद्वान् सज्जन भी स्त्रीप्रक्षाल का समर्थन करने लगे। सहशिक्षा से विकृति को अवश्यं-भावी कहने वाले सम्पादक जी को स्त्रीप्रक्षाल का बाहुल्य एवं प्रचार सर्वथा अविकृति विधायक ही क्यों प्रतीत होने लगा ? अग्नि और घी का अत्यधिक सम्मेलन सर्वथा रक्षा विधायक ही तो है नहीं।

बौद्धों के साम्राज्य काल में विद्याभ्यासी अकलंक और निष्कलंक दोनों जैन विद्यार्थियों के जैनत्व की जाँच के प्रसंग में उन दोनों विद्यार्थियों ने आपत्ति से बचने के उपायों में श्रीजिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा के ऊपर १ कार्पास सूत्र गिरा कर अपनी रक्षा कर ली थी, तो क्या परम वीतरागी, वस्त्राभूषण, उबटन, गंधलेपन, स्नान और अलंकारों के सर्वथा त्यागी, एव ८४००००० उत्तर गुणों को पूर्णतया पालने वाले निर्विकार श्रीअर्हंत भगवान् की साक्षात्कृति में विकार उत्पन्न हो सकना समुचित नहीं है ? हमारे अलंकार जी को आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज के सहवास में घटी हुई घटना का अवश्य स्मरण होगा। जब आप आचार्यश्री के चरण कमल पर गंध लगाने के लिए उद्युक्त हुए थे तब श्रीआचार्य महाराज ने आप को क्या आदेश दिया था ? इस प्रकार जब एक साधु अवस्थापन्न आचार्य महाराज अपने चरणों पर पुरुष के द्वारा किये हुए गंधलेप को अयोग्य समझते हैं तो क्या पांच प्रकार के निर्ग्रंथों में सर्वोत्कृष्ट स्नातक अर्हंत भगवान् की प्रतिमा का स्त्रियों के द्वारा स्पर्श कराने के लिए समर्थन करना समुचित है ? यहाँ पर १ यह भी बात विचारणीय है कि यदि अर्हन्त भगवान् और उनकी तत्कृति में एकांततः भेद समझकर भक्ति भाव से प्रेरित परिणामों को भगवत प्रतिमा के ऊपर गंध लेपार्थ प्रेरक समझ लिया जाय, तो क्या यह परिणामों की प्रखरता का विस्तार वस्त्राभूषणों तक नहीं पहुँच सकता ? और क्या श्रीआदिनाथ भगवान् की केशरिया जी में (ऋषभदेव उदयपुर) स्थापित पवित्रतम मूर्ति इन परिणामों की प्रखरता के ही कारण हमारे ही सहधर्मियों के द्वारा आकंठ पुष्पाच्छादित एवं सामस्त्येन केशर लिप्त नहीं कर दी जाती ? इत्यादि दुर्व्यवस्थाओं से हृदयंगत

दु खित लेखनी से यदि भगवान् को अपूज्यता के प्रसंग की संम्भवता लिख गई तो कौन सा वज्रपाप हो गया जो संपादक जी सहृदय पुरुष की शुद्ध भावना पर भी ऊंटपटांग या यद्वा तद्वा लिख कर भोली समाज को बहका कर कृतकृत्य होना चाहते हैं। क्या यह भानुमती के कुनबा जोड़ने से कुछ कम लीला है? और क्या बिचारशील धर्मनिष्ठ स्त्री समाज एव पुरुष समाज को अतीव खेद जनक नहीं है? परन्तु मीठी मीठी गप और कड़वी कड़वी थू भी तो कुछ न कुछ शक्ति रखती है। यही कारण है कि दूसरों के निर्दोष लेख भो असबद्ध और निर्मर्याद सूझते हैं और अपनी लेखनी श्री वीरसेन आचार्य महाराज तक को छद्मस्थता के कारण भूल जाने की सम्भावना लिख जाने का प्रयत्न करती रहती है, कमाल है इस पाण्डित्य पर। ऐसी भद्दी बातें लिखने में हमें भी संकोच होना चाहिये था, परन्तु हद हो गई आगम एवं युक्ति शून्य बिचारों के विस्तार की, और कषायावेश में लिखी हुई अग्राह्य बातों की। इसी से विवश होकर हमें अनिच्छा पूर्वक भी यह नग्न सत्य लिखना ही पड़ा।

"प्रक्षाल या पचामृताभिषेक कोई करो, या कोई मत करो, यह करने वालों की या न करने वालों की मान्यता या इच्छा पर निर्भर है, परन्तु किसी भी विद्वान् को ऐसी प्रमाण-शून्य लेखनी तो नहीं चलानी चाहिये" न्यायालकार जी के ये वाक्य कितने सुन्दर और आदरणीय हैं परन्तु इस प्रकार की उदासीनता या मध्यस्थता दिखाकर अपना उल्लू सीधा करने के सिवाय कुछ भी महत्व नहीं रखता। यदि यथार्थ में यह उदासीनता या मध्यस्थता उनके हृदय की चीज होती तो स्वयं ही इस विवादस्थ विषय की चर्चा

मे अपने को क्यों व्यस्त कर लेते, या क्यों दूसरो को भला बुरा सुनाते, या क्यों तो प० मनोहरलालजी के द्वारा लिखित ट्रैक्ट पर अपनी सम्मति छपवा कर आगम की लापरवाही ही करते ? और क्यों हमारे लेख की समीक्षा भी करते ? क्या उनकी इन क्रियाओं मे उदासीनता या माध्यस्थ-भाव का सद्भाव जान पड़ता है ?

सम्पादक जी महोदय हम से पूछते है कि "यदि आप लोगों के कथनानुसार सदैव स्त्री अशुद्ध ही रहती है, तो फिर श्रीजैनमदिर मे जाना, वहाँ जा कर शास्त्र स्वाध्याय आदि पुनीत कार्य कैसे करती है ? या आर्यिका क्षुल्लिकादि कैसे बन जाती है।" हमने तो भावसग्रह के कथनानुसार ही स्त्री को सदैव अशुद्ध लिखा है, मनमानी तौर पर कुछ भी नहीं लिखा है। फिर आप सीधे भावसग्रह क कर्त्ता को ही पूछते कि आपने यह क्यों लिख दिया है ? स्पष्ट अर्थ का विपर्यास करना शोभास्पद नहीं ह। सतत अशुद्धता के कारण स्त्रियों के दोनो प्रकार भी सयमभावना का अभाव तो अनेक शास्त्रों में मिलता है, परन्तु जैनमदिर मे जाना, शास्त्र स्वाध्याय करना पंचम गुणस्थानीय व्रतों के पालने का निषेध कहीं पर भी लिखा नहा है, इसलिए वे ये काय खुशी करें, कोई विरोध नहीं। और न इन कार्यों में यज्ञोपवीत का होना अनिवार्य लिखा है। हाँ अभिषेक में यज्ञोपवीत का होना अनिवार्य लिखा है, अतः अभिषेक नहीं करना चाहिये। हमने पुस्तक में मूलाचार एवं आचारसार के श्लोकों को उद्धृत करके मुनियों से स्त्रियों को सात हाथ दूर रहने, और सागार धर्मामृत के श्लोक की साक्षी पूर्वक जैसे श्रीमती ने वज्रजंघ से आहार दिलाया था, उसी प्रकार स्त्रियों को आहार देने को सुविधा मात्र लिखी है। दोनों में शास्त्रीय प्रमाण

उपस्थित हैं। तिस पर भी आप हमारा पूर्वापर विरोध बता रहे हैं। वस्तुतः यह तो पूर्वापर विरोध न होकर माध्यस्थ मार्ग है। यदि आप की दृष्टि में हमारे लेख में विरोध ही प्रतीत होता है, तो यह भ्रांति तो तब शांत हो सकती है, जब कि आप ही उपर्युक्त तीनों ग्रन्थों में से या तो दो ग्रन्थों को, या केवल एक ग्रन्थ को अमान्य घोषित कर दें। और पूर्वापर विरोध रहित शास्त्र के लक्षण की रक्षा करने की कृपा करें।

भामिनी सात हाथ की दूरी पर नहीं थी, यह बात सत्य है। इससे क्या सम्पादक जी यह सिद्ध करना चाहते हैं, कि भामिनी ने मुनि शरीर का स्पर्श किया था ? और क्या स्त्री मुनि महाराज या जिन प्रतिमा का स्पर्श कर सकती है ? यदि सम्पादक जी इन दोनों बातों को प्रमाण सहित सिद्ध कर दिया होता तो फिर कुछ भी विवादास्पद विषय ही नहीं रह जाता। अमुक ने ऐसा कर लिया या अमुक ने ऐसा नहीं किया ऐसे उदाहरणों को विधि या निषेध का साधक नहीं माना जाया करता है। "महारानी ने कलश से जल दिया राजा ने चरण धोए, तो क्या यह आहार देना महारानी का नहीं हुआ। चौके में स्त्रियाँ आहार स्वयं अपने हाथों से तैयार करती हैं या नहीं ? फिर आहार देना क्या बाकी रहा ? वे अपने अपने पति के साथ पड़गाहन करती हैं या नहीं ? चित्रों में भी सर्वत्र आहार देते हुए दम्पत्ति खड़े दीखते हैं। फिर रसोई तैयार करने के पीछे वे स्त्रियाँ चौके में रहती हैं या हटा दी जाती हैं" सम्पादकजी ने इस प्रश्नमाला से अपने अभीष्ट की सिद्धि मानली है, परन्तु उल्लेख कतई बेढंगा है। हमने अपने ट्रैक्ट में स्त्रियों द्वारा आहार तैयार होने का, पति के साथ मे पड़गहने का, चित्रों में आहार

देते हुए दम्पत्ति के खड़े रहने का, या चौके में से हटा देने का कब निषेध किया है ? हमारी तो ऐसी मान्यता भी नहीं है, फिर भी जो हमारे ऊपर यह झूठा आरोप करके भोली जनता को भड़काने या हमारे विरुद्ध उकसाने का प्रयत्न किया गया है, क्या इससे न्याय भूषित हो सकता है ? इन प्रश्नों को पढ़कर जिन्होंने हमारा ट्रैक्ट नहीं पढ़ा है वे इस भ्रम में अवश्य पड़ सकते हैं, कि शायद लेखक ने ये सभी बातें अपनी पुस्तक में लिखी होंगी। अस्तु, यदि वस्तुतः भामिनी के अनुसार की हुई अहारदान विधि में सम्पादकजी को संतोष होता तो वे इस समीक्षा को भी नहीं लिखते। क्योंकि हमारे लिखने का भी यही अभिप्राय है। पुस्तक को ध्यान से पढने वाले इसी निष्कर्ष पर अवश्य पहुँच जॉयगे। जिसकी कि मान्यता सम्पादकजी की उपर्युक्त वाक्यावलि में दर्शाई गई है। हमने भी तो आहार देने वाले दम्पत्तियों के खड़े रहने का निषेध नहीं लिखा है, जो आप को अपने लेख को प्रमाणित करने के लिए चित्रों को भी प्रमाण कोटि में घसीटने का प्रयास करना पड़ा। आहार देते हुए दाताओं के चित्र तो हमने भी कुछ न कुछ अवश्य ही देखे हैं। राँची के मंदिर जी में भी राम एवं सीता के द्वारा चारण मुनियों को आहार देते समय का, और दूसरा श्रेयांस सोमादि द्वारा आदिनाथ भगवान् को आहार देते समय का, इस प्रकार के दो चित्र हैं, जिन्हें हम हमेशा देखते रहते हैं। परन्तु हमने इन समस्त आहार दान के चित्रों में से एक भी चित्र में यह नहीं देखा, कि अमुक स्त्री अमुक पात्र का पाद प्रक्षालन कर रही हो या अपने हाथ से स्वयं ही पात्र के हाथ में ग्रास रख रही हो। इसीलिए हमारा सम्पादक जी महोदय से विनम्र निवेदन है कि यदि आपने कहीं ऐसा कोई चित्र देखा हो

तो आप उसका ब्लाक तैयार कराके जैन दर्शन में शीघ्रातिशीघ्र प्रगट कराने की कृपा करें। क्योंकि स्त्रियों के प्रक्षाल की सिद्धि में इससे बढ़कर और कौन ज्वलंत प्रमाण हो सकता है। इस द्योतक प्रमाण के आगे तो अनेक लेख एवं प्रमाण भी अयुक्त और निःसार ही हो जायगे।

हम कितनी बार लिखें, कि बिना यज्ञोपवीत धारण किये स्त्रियाँ ही नहीं, किसी को भी पात्रदान करने का अधिकार नहीं है, नहीं था, और न जब तक जैनागम में श्रद्धा दृष्टि है तब तक होगा ही। इतने पर भी कोई अपने हठवाद से स्त्री को स्वय आहार देने की अनधिकारिणी न समझे, या न माने या अनधिकृतदशा में प्रचलित पद्धति के अनुसार आहार देता दिलाता भी रहे, तो हमारे वश की क्या बात है ? कानून के खिलाफ व्यवहार करने से कानून को हटाया नहीं जा सकता है, या कानून के खिलाफ आचरणों को त्रिकाल में भी कानून नहीं माना जा सकता है। कानून अमिट, अचल है, और आचरणों की भरमार परिवर्त्तनशील एवं चचल है। अर्थात् कानून के बलपर जो जैसा करेगा उसका वैसा ही फल भुगतेगा। यही तो जैन सिद्धांत की अकाट्य एवं निर्विवाद मान्यता है।

हम तो खूब से भी खूब सोच या समझ चुके है, केवल घी के पिताजी के दर्शन करने थे सो भी हो चुके। अब लिखना यह है कि श्रीमती ने अपने पति को आहार देने में सहायता दी थी न कि स्वयं आहार दिया था। प्रमाण में सागारधर्मामृत के ५ वें अधिकार का ५० वां श्लोक एवं दान विचार का वज्रजंघो नृपो० आदि श्लोक को देख जाइये। और हमारे लिखने से यदि आपको संतोष न हो तो न सही, अपने पूज्य सहोदर भाई

पं० लालारामजी की प्रखर लेखनी से तो संतोष हो ही जाना चाहिये। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि "चारण मुनियों को आहार तो वज्रजघ ने ही दिया था। श्रीमती ने तो केवल सामग्री सपादनादि करके अपने पति के द्वारा आहार दिलाया था", यदि फिर भी संतोष न हो तो हम क्या कर सकते हैं। अब और भी पाठकगण समझ गये होंगे, कि स्त्रियों को मुनि आहारदान करने का निषेध है या नहीं। आदिपुराण मे भी स्पष्ट विवेचन है, कि चारण मुनियों को वज्रजघ के दिये हुए दान की अनुमोदना मात्र करने से श्रीमती का जीव राजा श्रेयांस हुआ था। और वह दानतीर्थ प्रवर्त्तकों मे मुख्य था। परन्तु उसने श्रीमती की पर्याय मे स्वयं दान नहीं दिया था। आप हमें तो युगादि तक की बातों को सोचने की प्रेरणा करते हैं, और स्वयं समक्ष में रहते हुए अपने भाई साहिब की लिखी हुई बातों को भी नहीं देखते। ठीक ही है, कषायावेश या पक्षपात के सामने ऐसा होना कोई नयी बात नहीं है। परन्तु ऐसी बातों से विशेषज्ञों को तो खेद और आश्चर्य ही होगा। पंच कल्याणकीय विधानों में पुरुषों के साथ स्त्रियों के रहने का निषेध कौन करता है। यहाँ तो निषेध केवल स्त्रीप्रक्षाल का है। जिसे कि आप अपनी पुरानी आदत के अनुसार अडवड लिखकर भी आर्षप्रणीत सिद्ध नहीं कर सके। आप लिखते है कि कल्याणक विधानों में स्त्रियों को भी समानाधिकार है तो क्या सूरमन्त्रप्रदानविधि में छट्ठे गुणस्थानवर्ती दिगम्बर मुनियों के तुल्य आप स्त्रियों को भी समझते है। यदि नहीं तो फिर समानाधिकार के गीत क्यों गाये चले जाते है? आज से करीब २८-३० वर्ष पहिले के लेखों में आप ने अनेक बार स्त्री पुरुषों के समानाधिकारों का पूरी तौर पर डंके की चोट निषेध किया था। उस समय आपके ऊपर समाज को कितना गौरव था, यह बात भी क्या भूलने की थी?

परन्तु आज न जाने किसको बदौलत आप में इतना परिवर्त्तन हो गया है, कि यदि कोई स्त्री पुरुषों का जरासा भी असमानाधिकार कह दे, तो आपसे चुपचाप भी तो नहीं बैठा जाता है। इसी वजह से आज समाज का दृष्टिकोण भी सतत बदलता जा रहा है। परन्तु आपको न तो अपनी पूर्वकालीन धार्मिक प्रखरता का ध्यान है और न सामाजिक रुख का। अस्तु, अब भी यह बात उपेक्षणीय नहीं है. क्योंकि सुबह का भूला हुआ यदि शाम को घर पर आजाय तो भूला हुआ नहीं समझा जाता। परन्तु जो शाम तक भी या अतंतो गत्वा रात्रि के अत तक भी घर नहीं लौटता वह कम से कम १ दिन का भूला हुआ तो समझा ही जाता है। इन्हीं भूल भुलैयों के चक्कर में आप ने यह भी लिख दिया है, कि हम स्त्रियों को तिर्यंच सदृश समझते हैं, परन्तु ऐसा नहीं है, हमने अपने ट्रैक्ट में स्त्रियों को आदर्श रमणियाँ लिखा है, और अभी भी हम समझते भी ऐसा ही हैं। फिर न जाने आप क्यों हमें बार२ इस लेखको बढ़ाने की प्रेरणा करते हैं? आपने स्त्रियों की जैनेन्द्री दीक्षा में बाधक केवल शाटिका को छोड़ने में अशक्यता ही लिखी है। क्या स्त्रियों के गुह्यांगों में सातत्येन जीवोत्पत्ति या उनका मरण जैनेन्द्री दीक्षा में बाधक नहीं है? और क्या कोई स्त्री नितांत एकांत स्थान में रहती हुई शाटिका उतार दे, तो क्या पूर्णतया तेरह प्रकार के चरित्र को पाल सकती है? या तत्साध्य निर्वृत्ति भी पा सकती है? हर्गिज नहीं। इसलिए केवल का शाटिका धारण ही निर्वृत्ति में बाधक कारण नहीं है, जैनेन्द्री दीक्षा का न होना भी तो बाधक है। और उस जैनेन्द्री दीक्षा का बाधक वही सिद्धान्त ग्रन्थों में उल्लिखित गुह्यांगाश्रित जीवों का सतत उत्पाद एवं विनाश होते रहना है। और यही यज्ञोपवीत को न धारण कर सकने में कारण है। पुरुषों के गुह्यांगों में यह सतत उत्पाद और

विनाश नहीं होता है, इसीलिए वे यज्ञोपवीत धारण करते हैं और जैनेन्द्री दीक्षा लेकर निर्वाण पालेते हैं। यदि आपकी दृष्टि में हमारी ये पंक्तियां आगम विरुद्ध न जंचती हों तो कृपानाथ स्त्री पुरुषों के समानाधिकार का आलाप स्थगित कीजिये। और यदि ये पक्तियाँ भी आपको आगम विरुद्ध ही जंच जॉय, तो करिये जो आपका जी चाहे। जो होनहार है वह होगा ही। जैनागम में शूद्रों को भी भगवत्पूजा करने का अधिकारी माना गया है। और आपके लिखे अनुसार जिनेन्द्र के पूजन में यदि अभिषेक भी एकांततः सम्मिलित हो, तो क्या शूद्रों के द्वारा भी जिनाभिषेक होना या कराना भी आपको इष्ट है। परम पूज्य चारित्रचक्रवर्ती योगीन्द्रचूडामणि महाविद्वान् विवेकी शास्त्राज्ञा के पूर्ण परिपालक सिद्धांतपारंगत आचार्य महाराज तो शूद्रों के मंदिर में अप्रवेश के लिए भी घोर तपस्या एवं आजीवन अन्न का त्याग करके आत्मबल के सहारे सफल प्रयत्न होकर समाज का भविष्य उज्वल करें, और उनके अनन्य भक्त शिष्योत्तम शूद्रों के द्वारा अभिषेक सिद्ध हो जाने तक की बात को भी न विचारें, क्या यह शास्त्रों एवं गुरुओं के आदेशों के विरुद्ध, प्रचलित पद्धति को प्रोत्साहन देना या उनकी आज्ञा के विरुद्ध अंडबंड लिख मारना समुचित है ? न्यायालकारजी अधिकार प्राप्त मनुष्यों को पूजन के पहिले भगवान् का प्रक्षाल करना अनिवार्यरूपेण परमकर्त्तव्य होकर भी पूजन में गर्भित नहीं है, क्योंकि पूजन के तो आह्वानन १ स्थापन २ सन्निधीकरण ३ पूजन ४ और विसर्जन इस प्रकार पांच ही अंग हैं। आप लिखते हैं कि "उनसब बातों के प्रमाण शास्त्रों को सामने रखकर हम बता सकते हैं" ठीक है आप बता सकते होंगे। परन्तु इस समीक्षा में तो एक भी प्रमाण आपने नहीं बताया। यदि इन प्रमाणों को बताने में कुछ विलम्ब ही आवश्यक था

तो आपकी इस शारदी वृष्टि के अभाव में कौन सा फला हुआ धान सूखा जाता था, जो आपको इतनी जल्दी करनी पड़ी। अस्तु, तब न सही तो अब ही सही। सीमित वृष्टि तो जब हो तभी श्रेयस्कर होती है। और असीमित शारदी वृष्टि ने भी अभी २ डिबरू सरीखे गढ़ को भी सफाचट कर ही दिया। और जनता फूट २ कर रोती हुई भी कुछ न कर सकी। यहां तक कि जनताधिपतियों को भी दिलमसोस कर एवं किंकर्त्तव्य विमूढ़ होकर अपनी हार पर संतोष ही रखना पड़ा। क्या किया जाय यह सभी दुष्काल कलिकाल का माहात्म्य है।

सम्बध और प्रयोजन का देखना उतना ही कठिन कार्य है, जितना कि कहना हल्का है। कह तो सभी देते हैं, परन्तु कर बैठते हैं बादरायण संबंध एवं अयुक्त प्रयोजन। ऐसा कहते हुए भी आपने अपने लेख में क्या भानुमती से उसका कुनबा नहीं जुड़वाया ? कारण आपने इसी सिल सिले में लिखा है कि "गोदोहैः लपाविता धात्री आदि श्लोकों के आशय भी कुछ के कुछ लिख गये हैं" यह लिखना तो तब यथार्थ मालूम होता जबकि आप स्वयं उसका खुलाशा आशय लिख देते। सो तो किया नहीं, ऐसी हालत में आपका कुछ भी लिखना है कितना तथ्यपूर्ण है, इसका विचार स्वयं ही करें। ये दोनों श्लोक आदि पुराण के ४१ वें पर्व के हैं। इनका सम्बन्ध तो भरत चक्रवर्ती के साथ है और प्रयोजन खोटे स्वप्नों की शांति करना है। हमने इनका अर्थ किया है कि "तदनन्तर खोटे स्वप्नों की अनिष्टता को शांत करने के लिए भरत महाराज ने श्रीजिनेन्द्र भगवान् का अभिषेक किया, एवं सत्पात्रों को दान देना आदि पुण्यकार्यों के द्वारा शांतिक्रिया की, गौओं के दूध से जमीन को सींचा (अर्थात् पृथ्वीवासी सभी सज्जनों को गौओं

का बहुत सा दूध दिया, न कि जमीन पर ढोल दिया), महर्षियों की पूजा की, बड़े २ दान दिये तथा प्रणयीजनों को संतुष्ट किया ॥८६॥ यदि इस शांतिक्रिया में दूध को जमीन पर भी ढोल दिया हो तौभी क्या हुवा ? दिग्बंधन, हवन क्रिया, पुण्याह-वाचनादि क्रियाओं में जमीन पर भी दूध की धारा देने का विधान मिलता है। दूसरे अलंकार भाषा में भारत में दूध की नदियां बहती थीं इत्यादि वाक्यों का प्रयोग भी देखा जाता है, इसका अर्थ यही है कि दूध का बाहुल्य था। इसी प्रकार गोदोहैः प्लाविता धात्री का यही अर्थ है कि दुग्ध वितरण किया। "और न्यायालंकार जी के बड़े भाई धर्मधीर पं० लालाराम जी शास्त्री ने आदिपुराण की टीका करते समय इन श्लोकों का जो अर्थ किया है वह इस प्रकार है, "बुरे स्वप्नों से होने वाले अनिष्ट की शांति करने के लिये भगवान का अभिषेक करना, और सत्पात्रों को दान देना आदि अनेक पुण्यरूप क्रियाओं से शांति कर्म करना प्रारम्भ किया ॥८४॥ उसने गाय के दूध से पृथ्वी का सिंचन किया, महर्षियों की पूजा की, बहुत बड़े २ दान दिये, और अपने कुटुम्बी लोगों को सब तरह प्रसन्न किया" ॥८५॥ धर्मधीर जी ने भी इन श्लोकों का सम्बन्ध भरत महाराज से ही बताया है, और प्रयोजन भी शांतिकर्म करना लिखा है। इस प्रकार हमारा अर्थ भी धर्मधीर जी के अर्थानुसार ही है। और गाय के दूध से पृथ्वी को सींचना भी समानार्थ है, हमारा आशय और धर्मधीरजी का भी आशय एक ही है, उन्हें भी इन श्लोकों के अर्थ में दुग्धाभिषेक की गंध तक भी नहीं मिली, और हमने भी इसी आशय से इन श्लोकों को उद्धृत किया है। अब पाठकगण अच्छी तरह से समझ गये होंगे, कि हमने उन श्लोकों का आशय कुछ का कुछ लिखा है या नहीं। तिसपर भी इन श्लोकों के आशय में न्यायालंकार जी को दूध के द्वारा जिना-

भिषेक होने की गध आने लगी हो, तो हमारी पुस्तक को देखने पर ही ऐसा क्यों हुवा ? क्या न्यायालकार जी ने धर्मधीर जी का किया हुवा अर्थ देखा नहीं था ? हमारी पुस्तक के पहिले ही धर्मधीर जी के किये हुए अर्थों का आशय कुछ का कुछ बतलाने की हिम्मत नहीं हुई, और तदनुसार ही लिखने वाली हमारी लेखनी को भानुमती का कुनवा जोड़ना लिख दिया। वस्तुतः बात तो यह थी, कि धमधीर जी की कीहुई टीका के बहुत समय बाद तक तो न्यायालंकारजी को अभिषेकार्थ पंचामृत अभीष्ट नहीं था, और हमारी पुस्तक प्रकट होने के कुछ समय पहिले ही वह बात विपरीत हो गई। जमाना बदल गया। सम्पादक जी कहा या लिखा तो यों करते हैं, कि जमाने के परिवर्त्तन के अनुसार धार्मिक विधि नहीं बदलती। परन्तु जब जमाना ही बदल गया, तो आप ने अपने को भी बदल ही लिया। ठीक ही है खरबूजे को देखकर खरबूजा भी तो रंग बदल डालता है। फिर क्या खरबूजे की भी बराबरी करने की शक्ति सम्पादक जी में नहीं है। सम्पादकजी का आखिरी फैसला भी बडा जोरदार है कि, जो स्त्रीप्रक्षाल, स्त्री के द्वारा मुनियों को आहारदान एवं पचामृताभिषेक की पक्ष में हों, वे तो समझदार प्रसिद्ध २ आचार्य मुनिराज और प्रसिद्ध ही अनुभवी हैं। और जिनको ये आगम विरुद्ध बातें न रुचती हों, अर्थात् विपक्षी हों, तो वे न समझदार हैं, न प्रसिद्ध आचार्य हैं, न मुनिराज हैं और न प्रसिद्ध अनुभवी भी हैं। क्या खूब अंधा बांटे रेवड़ी फिर-फिर घर को देय। आपने अभी तक इस बात की भी खोज नहीं कर पाई कि, इन बातों की पक्ष में बाहुल्य है या कतिपयता। बस, अब यह और देखना है, कि जो अभो बड़े जोरों से गरज रहा है, वह कब और कितना बरसेगा।

यदि आपने हमारी पुस्तक में लिखित बातों के विरोध में शास्त्रीय प्रमाणों का दिग्दर्शन कराया होता, तो इन विषयों के सम्बध मे हमारे द्वारा लिखा हुआ एक अक्षर भी आप के सामने नहीं आता " सब बातों के प्रमाण शास्त्रों को सामने रख कर बता सकते हैं " इस प्रकार लिखते हुए भी अभी तक एक भी आर्ष प्रमाण न देकर मात्र कुतर्कों का ही आश्रय लिया गया है, इसी से दुःखित होकर हमें फिर भी यह लेख लिखना पड़ा है। पं० मक्खनलालजी हमारे श्रद्धास्पद धर्मस्नेही बुजुर्ग हैं। आशा है कि वे हमें आर्षशास्त्रों के प्रमाण पूर्वक निष्पक्षदृष्टि से सैद्धान्तिक व्यवस्था या विधान अवश्य देंगे। यदि ऐसा हुआ तो हम उसी क्षण अपना दृष्टि कोण बदलकर स्वय मिथ्यादृष्टि बनने का प्रसंग नहीं आने देंगे। केवल उदाहरणों को न तो सिद्धान्त का रूप मिला है, न मिलेगा, और न मिल ही सकता है। हमें तो केवल आर्षविधान पाने का प्रयोजन है। तिस पर भी शास्त्रीयप्रमाण संयुक्त हमारी पुस्तक को तो अशास्त्रीय बताना, और अपने निश्चित किये हुए मनमाने मन्तव्य की पोषक ब्रह्मचारी सूरजमल जी के द्वारा लिखी हुई एवं स्त्रीप्रक्षाल विधायक विधान से सर्वथा शून्य, पुस्तक को भी शास्त्रीय बताना, न्यायालंकार जी को उचित नहीं है। हमने जैनगजट मे छपने के लिए अपना लेख भेजा भी नहीं था ऐसी हालत में जैनगजट उसे छाप ही कैसे सकता था, तोभी जैन-दर्शन के सम्पादकजी ने जैनगजट में उसका प्रकाशित होना, और बीच में ही बन्द कर देने का आरोप जो जैनगजट पर लगाया है, और जो इसका कारण हमारे लेख का अनौचित्य ठहरा दिया है, वह सर्वथा गलत है। जिसे जैनगजट के ग्राहक एवं पाठक भली भांति जानते हैं। इसी गलती के आधार पर केवल जैन-संदेश को ही नहीं किन्तु जैन सघ को भी व्यर्थ ही कोश डाला

है, इसका प्रधान कारण संघ के प्रति सम्पादक जी की पुरानी दुर्भावना ही है। जो कि शोभा की चीज नहीं है। हमको महासभा का उपदेशक बताना भी सर्वथा गलत ही है। जब इस प्रकार से बार २ गलत लिखने रूप पेचिस रोग ने आपको जकड़ रक्खा है, तब हमने उसे दूर करने का अनुपम इलाज छाछ का विलौना प्रारंभ कर भी दिया हो, तो अनुचित ही क्या है ? आप ने भी तो अभीतक स्त्रीप्रक्षाल विधायक शास्त्रीय विधि रूप मक्खन नहीं निकाल पाया है, और केवल उस खूजरी को ही खिला २ कर समाज को प्रसन्न रखना चाहते हैं, जिसे कि छाछ को छान लेने पर फेंक ही दिया जाता है। आप हमारी पुस्तक का उत्तर देना तो तब उचित समझते, जबकि आप की गम्भीर गूढ़दृष्टि में स्त्रीप्रक्षाल विधायक कोई आर्ष विधान होता, या हमारी पुस्तक आर्षागम से शून्य होती, सो तो दोनों ही बातें नहीं थी, फिर उत्तर क्या देते ? इसी लिए "उत्तर देना उचित नहीं समझते" ऐसा लिखकर ही सफाई बताते हुए अपने अनुगामियों को संतुष्ट रखने के लिए विफल चेष्टा की है। यदि आपको वस्तुतः सैद्धान्तिक बातों पर ही विचार करना इष्ट हो, तो कृपा कर हमारे इन प्रश्नों का सीधा साधा आर्ष-प्रमाण पूर्वक उत्तर देकर, इस पारस्परिक व्यर्थ विसम्वाद को स्थगित कर दीजिये। प्रमाण में मूल आर्षवाक्य ही पर्याप्त हैं।

१ ज्ञानं पूजां॰ पाठ के द्वारा जिस प्रकार समन्तभद्राचार्यजी ने प्रज्ञामद (ज्ञानमद) को आठ प्रकारीय मदों में प्रतिपादित किया है, उसी प्रकार अज्ञान को मद किस आचार्य ने लिखा है।

२ यज्ञोपवीत को धारण किये बिना ही क्या कोई श्री जिनाभिषेक या आहार दान कर सकता है।

३ स्त्रियों में ऐसी कौन सी खास बात है, कि जिसके कारण वे स्वयं यज्ञोपवीत नहीं पहिन सकती हैं।

४ पत्नी रहित (कुमार, बालब्रह्मचारी, त्यागी पुरुष, एवं विधुर गृहस्थ) पुरुष पूजा या दान कर्म में कितने यज्ञोपवीत पहिने।

५ साधुओं की चर्या का आधार आगम है, या आगम का आधार साधुचर्या है।

६ ऋषभदेवजी के पुत्रियों का होना, भरतचक्रवर्त्ति का बाहुबलि द्वारा अपमान होना आदि, अनेक बातों का होना हुण्डावसर्पिणी काल का दोष है, या ऐसा होना सैद्धान्तिक है।

७ साधारण स्त्रियों की योनि से ऋतुकालातिरिक्त सातत्येन रजस्राव होता रहता है या नहीं।

८ चतुर्णिकायी देवों में जिनशासन और अजिनशासन कौन २ हैं।

९ जब कि पुजारी को भगवान् की दाहिनी ओर ही रह कर पूजा करने का विधान है, तो जहाँ पर भगवान् उत्तराभिमुखी हों वहाँ पर पुजारी अपना मुख किधर करे।

१० अन्ययों के पाठ में जिस प्रकार अधोअधस् मिलते हैं उसी प्रकार अधो अध को छोड़कर अधस् पाठ भी मिलता है या नहीं।

११ शूद्र पुरुष श्रीजिनाभिषेक कर सकता है या नहीं ? यदि हाँ तो साभिषेक या निरभिषेक ?

जो बात, स्त्री समाज के शास्त्रीय सैद्धान्तिक अधिकार,

और सम्यक्त्वविशिष्ट कल्याण से सम्बन्ध रखती है, उस विषय में निरर्थक लेखनी का विद्वत्समाज में ही नहीं, किंतु साधारण समाज में भी कोई प्रभाव नहीं हो सकता है, यह कथन सर्वथा समुचित है, परन्तु ग्रन्थमात्र को सैद्धान्तिक या सम्यक्त्व रूप मानबैठना भी तो समुचित नहीं है। जब कि सामान्य विद्वानों को भी समझाने के लिए केवल इशारा ही काफी होता है, तो फिर ब्र० पण्डिता पूज्या चंदाबाईजी सरीखे विदुषीरत्न के लिए पृथक् लेख लिखना सर्वथा ही अनावश्यक है। दूसरे जब किसी सुचतुर प्रौढा सासू को अपनी नवीन बधू को समझाने का सुयोग आ पड़ता है, तो बहू को साक्षात् न समझा कर अपनी बेटी का मिस कर के समुचित शिक्षा दिया करती है। जिससे सुयोग्य बहू भी अपना श्रेष्ठ मार्ग स्वयं सहज ही में समझ लेती है, इस लिए यह कहावत भी प्रसिद्ध है "कि धिय से कही बहू के कान हुए,, अतः यह लेख-व्यवहार उनके पाण्डित्य की परीक्षा में भी कसौटी का काम करेगा।

तीन बातों का सरल उत्तर इस प्रकार है कि :—

स्त्रियों के द्वारा जिनाभिषेक और आहारदान करने में उदाहरणों के अतिरिक्त कोई स्पष्टविधान नहीं है, अतः निषिद्ध ही समझना चाहिये। और पंचामृताभिषेक का विधान भी मूलसंघ के प्राचीनतम ग्रन्थों में नहीं है, अतः वह भी तत्सम ही है। इन बातों का विस्तृत वर्णन हमने अपने पहले ट्रैक्ट में और इस ट्रैक्ट में भी पूर्णतया किया है। इसी प्रकार ग्रन्थों की मान्यता के विषय में भी हम अपना अभिमत दोनों ट्रैक्टों में स्पष्ट कर चुके हैं। आचार्यगण, साधुसंघ, और वर्णी क्षुल्लकादि-त्यागीवर्ग स्त्रियों के हाथ से आहार लेते आ रहे हैं, और इसे

समुचित भी समझते हैं, इतने मात्र से ही जब तक कि ये बातें आर्षागम से सिद्ध नहीं की जा सकतीं, तब तक किस प्रकार और क्यों उपादेय ठहराई जा सकती हैं? इससे अधिक और क्या पूज्य पुरुषों से निवेदन कया जा सकता है।

आप हमारे श्लोकार्थों को खींचतान करके अशास्त्रीय पद्धति का पोषक कहते हैं। और स्वयं सीधा सरल शास्त्रीय पद्धति का पोषक अर्थ लिखते भी नहीं हैं। इतना ही नहीं, किन्तु आँख मींच कर ब्रह्मचारीजी के किये हुए अनर्थों को निर्विवाद निर्णीत केवल वचनमात्र से ही कहे जा रहे हैं। और आप की दृष्टि में ग्राह्यता अग्राह्यता, प्रसारण अप्रसारण का निर्णायक उपाय यही जंच रहा है वह क्यों? वस्तुतः तो यह निर्णायक सदुपाय नहीं है। आपने ब्रह्मचारी जी के द्वारा दिये हुए प्रमाणों के अतिरिक्त अनेक अकाट्य प्रमाण पढ़े हैं, या गढ़े हैं? इसका तो निर्णय तभी हो सकता है, जब कि आप स्वयं उन्हें प्रकाश में लावें। परंतु न मालूम आप किस स्वर्णमयी अवसर की प्रतीक्षा में हैं। "पहिले सूरजमलजी को उत्तर दीजिये, उसके पहिले हम व्यर्थ में शक्ति समय लगाने से कोई लाभ नहीं समझते हैं" आपने यह जो लिखा है, उससे विज्ञपाठकगण तो आप की हार्दिक भावना को ताड़ ही गये होंगे? पीछे आप क्या अमोघ प्रमाण देंगे, सो भी जनसाधारण के सामने आही जायगा। हमने अद्यावधिपर्यन्त किसी भी शास्त्रीय सिद्धान्त को अन्यथा सिद्ध करने का प्रयास नहीं किया है, न कर रहे हैं, और न करेंगे। हम आप से पुनः निवेदन करते हैं, कि आप हमसे स्त्रीप्रक्षाल का निषेध न मांग कर केवल स्त्रीप्रक्षाल विधायक विधिमार्ग ही दिखला दीजिये। हम उसी समय अपनी लेख माला को स्थगित करके आचार्यचरणों

में जाकर प्रायश्चित कर लेंगे। यदि कदाचित् विधिमार्ग न मिले तो, आप उन्हें ही समझा दीजिये, कि जिन्हों ने इन मनमानी दुष्प्रथाओं का प्रचार करके शांत समाज को सब पहिले क्षुभित करने के लिए प्रथम ही अपना दूषित कदम बढ़ाया है। यदि इन दो उपायों में से एक भी उपाय आप उपयोग में ले आवेंगे, तो हम आप को विश्वास दिलाते हैं, कि भविष्य में आप हमारे द्वारा लिखा हुआ, एक अक्षर भी न पायगें। और आपकी प्रत्यक्ष दृष्टि का समर्थन करते हुए उभयपथी धर्मबंधु सज्जन अपनी २ आम्नायानुसार कट्टर होकर धार्मिकता को बढ़ाते रहेंगे। जिस का मुख्य श्रेय आप को भी शांति एवं सुखदायक होगा।

श्रीवर्द्धमानाय नमः

पं. इन्द्रलालजी शास्त्री के परमावश्यक दो शब्दों पर विचार

मंगलाचरण

नमन करत चरणन परत अहो गरीबनिवाज ॥
पंच परावर्त्तननितैं निरवारो ऋषिराज ॥१॥

हमारी पुस्तक के समाधान रूप में जो पुस्तक जयपुर से प्रकाशित हुई है, उस में प्रस्तावना के रूप में जयपुर निवासी श्रीमान् पं० इन्द्रलालजी शास्त्री ने परमावश्यक दो शब्द लिखे हैं। उन में जितना विषय प्रकाशकजी के साथ सम्बन्ध रखता है, उसका समाधान तो प्रकाशकजी ने स्वयं ही इस पुस्तक को प्रारम्भ करने के पहिले ही कर दिया है। अतः पाठकगण उसे तो वहीं पर देखने का कष्ट करें। अवशिष्ट दो शब्दों पर हम सब से प्रथम कुछ प्रकाश डालना प्रारम्भ करते हैं।

विश्व मे तो नानाप्रकार के परिवर्त्तन हुवा ही करते हैं, उनमें से उन्हीं परिवर्त्तनों को सहन करना समुचित है, जो सच्ची श्रद्धा एवं समीचन प्रवृत्तियों में बाधक न हों। इनके सिवाय जो परिवर्त्तन सच्ची श्रद्धा में विपरीतता, एवं समीचीन प्रवृत्तियों में शिथिलता पोषक हों, उनको भी सहते चले जाना, सहिष्णुता नहीं, किंतु कायरता ही है। समन्वय रूप में परस्पर मेल जोल से रहना यद्यपि भूषण है, तोभी इस समन्वय की कोई न कोई सीमा तो रहनी ही चाहिये। सीमा का उल्लेख न करके यदि समन्वय को एकान्ततः असीम

रूप में ही उपादेय मान लिया जाय, तो फिर "हीयते हि मतिस्तात हीनैः सह समागमात्" इस नीतिका क्या मूल्य रह जायगा ? जिस प्रकार प्लेग, हैजा तपेदिक (क्षयरोग) कोढ़, विषका फैल उठना, (पोइजन) आदि संक्रामक रोगों का उपचार करने वाले वैद्यों या डाक्टरों, को एवं इन रोगों से जकड़े हुए प्राणियों की सेवा करने वाले परिचारकों को, उस रोग के द्वारा अपने को आक्रान्त हो जाने के भय से स्वयं पूर्णतया सावधान या अलिप्त रहना अनुचित नहीं है, उसी प्रकार बिना प्रमाण मनमानी बातों के प्रचारकों को सदुपायों के द्वारा समझाने पर भी सन्तोष न हो, और हर समय श्रद्धान को विपरीत एवं चारित्र को शिथिल करने वाले उनके उत्सूत्र उपदेश या आदेशों से भोली अनभिज्ञ जनता का अकल्याण होता रहे, तो उस से अपने या उनके बचाव रखने की चेष्टा करना शोचनीय एवं दुर्भाग्यपूर्ण प्रसंग नहीं है, बल्कि परमसौभाग्य और आदरणीय परमकर्त्तव्य ही है, यदि ऐसा न हो तो फिर मोक्षमार्ग का उपदेशादि भी अनुचित ही ठहरेगा।

आपस में लड़कर एक दूसरे से अलग हो जाना अच्छा नहीं है, तो भी बार बार चुटकियां भरने वालों की चुटकियों को बर्दाश्त करते जाने की आदत पड़ जाना, और उनसे अपना विघात तक करालेना, कहाँ तक न्याय संगत है। मनस्वी धार्मिक व्यक्ति तो अपने प्राणों की भी बाजी लगाकर अपने शुद्ध धार्मिक आचारण की रक्षार्थ चेष्टा करता ही है, अब चाहे वह अल्पसंख्या में रह जाय, या समस्त लोक को अपना अनुयायी बनाले। अर्थात् धार्मिक भावना एवं उसके संरक्षण करने के सदुपायों से शून्य बहुलता भी

आदरणीय नहीं है, और तद्विशिष्ट अल्पता भी उपेक्षणीय नहीं है। इस सिद्धान्त के सामने हम कितने से कितने रह गये, और इतने से कितने थे, इत्यादि प्रश्नों का प्रभाव धार्मिक दृढ़ता को कुछ भी ठेस नहीं पहुंचा सकता है।

इन्दौर निवासी, समाज के अनभिषिक्त राजा दानवीर सरसेठ हुकमचंद्रजी साहिब नाइट की स्वकीय लिखी हुई सम्मति को ही हमने ज्यों की त्यों अपनी पुस्तक में प्रकाशित किया है, और वे अपनी दी हुई सम्मति के अनुसार अभी तक भी अपनी शुद्धाम्नाय में पूर्णतया दृढ हैं। पाठकगण उनकी सम्मति मंगाकर उनकी मान्यता के विषय में पूरी जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। श्री पं० इन्द्रलालजी शास्त्री ने उनके शब्दों का उनके अभिप्राय से सर्वथा विपरीत अर्थ समझकर, और अपने अभिप्राय को उनका लिखकर, जैसा अपने दो शब्दों में सर सेठ साहिब का अभिप्राय प्रकाशित कर दिया है, वह बिल्कुल असत्य है, इस से ज्यादा हम सरसेठ साहिब की सम्मति के विषय में लिखकर पुस्तक का कलेवर बढ़ाना नहीं चाहते हैं।

"मैंने पं० शिवजीरामजी एवं ब्रह्मचारी सूरजमलजी की लिखी हुई दोनों पुस्तकों को आद्योपान्त ध्यान पूर्वक पढ़ा, तो मुझे पं० शिवजीरामजी महोदय की लिखी हुई पुस्तक बहुत ही निर्बल प्रतीत हुई" ऐसा जो शास्त्रीजी ने लिखा है, वह ठीक नहीं है। कारण यह है, कि हम भाद्रपद मास में जयपुर गये थे। और हमने अपनी पुस्तक शास्त्रीजी को दिखलाई भी थी। उस समय तक उस पुस्तक के साथ प्रकाशकीय वक्तव्य तो था ही नहीं, वह तो बहुत पीछे छपा है। अस्तु, जितनी भी पुस्तक दिखलाई थी, उसका थोड़ा साही हिस्सा देखते ही

शास्त्रीजी ने अपनी अरुचि प्रकट कर दी थी। ऐसी हालत में शास्त्रीजी का यह लिखना कि "मैंने उस समय ही पुस्तक को ध्यान पूर्वक देखा" उचित नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्मचारीजी के द्वारा लिखी हुई पुस्तक को भी ध्यान पूर्वक देखा ही होगा या नहीं। तिसपर भी उभय पुस्तकों का शांतभावों से सम्मेलन दर्शाए बिना ही, एक पुस्तक को सबल, और दूसरी को निर्बल प्रतीत होने का क्या अर्थ है? सो पाठक ही सोचें। यदि वस्तुतः हमारी पुस्तक निर्वल जंची थी, या उससे शास्त्रीजी को दुःख हुआ था, तो हम ने जो विधान मांगा है, उसको सप्रमाण देकर निर्णय करना था। यों ही वचन मात्र लेख लिखकर निर्णय देना तो व्यर्थ ही हुवा। धार्मिक तत्त्वप्रतिपादन करना ही विद्वत्ता है, और वही कथनीय एवं आचरणीय है। यह सभी कुछ होते हुए भी तो दो शब्दों में कोई तत्त्व नहीं लिखा गया, बल्कि अपने पूर्व से ही मुड़े हुए दृष्टिकोण को ही केवल उदाहरणों से मजबूत करना चाहा है। धार्मिक दृष्टिकोण को मोड़ने की ताकत न तो आधुनिक वचनकला में है, और न लेखन कला ही में है, क्योंकि उसकी अनुरणता का कारण तो केवलिवचनकला एवं गणधरों की लेखनकला ही है, या तदनुकूल परमागम है। भावुकता एवं अनिच्छाकृति ग्राह्य नहीं है, तोभी कोई उसमें फंस जाय, या स्वयं ही कर बैठे, तो सिवाय भविष्य के और क्या कहा जा सकता है।

महिलाओं द्वारा जिनाभिषेक, महिला द्वारा स्वयं मुनिराज को आहारदान, पूजा में पश्चिमदिशा एवं दक्षिणादि दिशाओं की घातकता, आदि असिद्ध बातों पर जब कि परामर्श जारी ही है, तब भी उन्हें आगमसिद्ध और आगम से निर्विवाद लिखना तो अयुक्त ही है। ये बातें आगमविधान द्वारा निर्णीत न हो

जाने तक तो विवादग्रस्त होने से साध्य ही हैं, कौन जाने सिद्ध होंगी या नहीं ? हाँ अयोग्यों का जिन मंदिरों में अप्रवेश और और पूजा में पूर्वोत्तर दिशाओं की योग्यता में आगम सिद्धता एवं आगम से निर्विवादता है ही। प्रवृत्ति या अप्रवृत्ति पर योग्यता या अयोग्यता निर्भर नहीं होती, उनका आधार तो आगम ही है। अतः आगम द्वारा सिद्ध कर्त्तव्यों पर पूर्णतया श्रद्धा रखते हुए ही यथाशक्ति पालन करना चाहिये। परन्तु यह तरीका विवादग्रस्त साध्यों के लिए कहना उचित नहीं है। अवैध और अनुचित कार्यों की प्रगति को विस्तृत न होने देने की सद्भावना से ही तो प्रस्तुत प्रयास किया जा रहा है, इस में खेद करने के लिये गुंजाइश कहां है ? आत्मसमर्पण की प्रतिष्ठा तो धार्मिक आचारों पर ही निर्भर है। अधार्मिक एवं मनोनीत मान्यताओं पर तो हसते हुए बलिदान हो जाना भी भूषण ही है। आगमप्रणीत कार्यों का विरोध करके थोथा सघर्ष मोल लेना, या उसी में सारी शक्तियों को खपा देने का दिवास्वप्न दिखना कदापि उचित नहीं है। परन्तु आगम के नाम पर सभी धानों को बाईस पसेरी बेचना भी तो समुचित नहीं है, और न इस अनौचित्य से असहयोग रखना ही अकर्त्तव्य है। हमने अपनी पुस्तक में असच्छूद्रों को मन्दिर में घुसने का निषेध लिखा है, स्त्रियों को नही। और इस बात में प्रमाण रूप हरिवंश पुराण के दो श्लोकों को उद्धृत किया है। वे दोनों श्लोक हमारी पुस्तक मे इस प्रकार लिखे हुए हैं।

प्रादक्षिण्येन वदित्वा मानस्तंभमनादितः ॥
उत्तमाः प्रविशन्त्यंतरुत्तमाहितभक्तयः ॥१७२॥
पापशीला विकुर्वाणाः शूद्राः पाखंडपांडवाः ॥
विकलांगेन्द्रियोद्भ्रान्ताः परियंति बहिस्ततः ॥१७३॥

हरिवंश पुराण ५७ वां पर्व ॥

इन दोनों श्लोकों में से दूसरे श्लोक के प्रथम चरण में विकुर्माणाः पाठ प्रेस की गल्ती से अशुद्ध छप गया है, जिसको हमारी पुस्तक के पृष्ठ (ण) में दिये हुए शुद्धिपत्र के द्वारा विकर्माणाः रूप में शुद्ध कर दिया गया है। शास्त्रीजी ने अपने लिखे माफिक हमारी समस्त पुस्तक को ध्यान से देखा होता तो सम्भव ही था, कि इस गलत पाठ को शुद्ध ही समझ लेते, परन्तु उसे देखा तो गया था अरुचि पूर्वक चञ्चुकग्राही दृष्टि से, फिर होता ही क्या ? अब रही पाखण्डपांडवाः पाठकी अशुद्धता। उसका समाधान यह है, कि जयपुर निवासी पुराने पण्डित स्वर्गीय दौलतरामजी साहिब ने इन दोनों श्लोकों का अर्थ इस प्रकार से लिखा है कि :—"वाहनादिपरिग्रह तिनको बाहर तजकर पूजा की सामग्री कर युक्त, मानस्तंभ के पीठ को प्रदक्षिणा कर नमस्कार करें हैं फिर मानस्तभों के परे उत्तमजन प्रवेश करें हैं महाभक्ति कर मंडित भोतर पैठे हैं॥ और जो कुकर्म करनहारे पापी हैं अर नीच हैं पाखंडी हैं और अंग जिनके विकल हैं और जिनकी इन्द्री भी विकल हैं सो बाहर ही से वंदना करें हैं।" इस अर्थ में नपुंसकों का अप्रवेश नहीं लिखा है। इससे पाखंडपांडवाः के स्थान पर शास्त्रीजी ने जो शुद्ध समझ कर पाखंडिषण्ढकाः पाठ लिखा है वह उचित नहीं मालूम होता है॥ तथा स्वर्गीय श्रीमान् पं० गजाधरलालजी शास्त्री ने इन दोनों श्लोकों का अर्थ इस प्रकार से लिखा है कि :—"उत्तम भव्यजीव अपने वाहनादि परिग्रह को बाहिर छोड़कर पूजन की सामग्री हाथ में लेकर मानस्तंभ के पीठों के पास जाते थे। और

प्रदक्षिणा कर उसकी वंदना करते थे। उसके बाद उत्तम-भक्ति से प्रेरित होकर समवसरण में प्रवेश करते थे ॥ जो मनुष्य पापी नीच कर्म करने वाले शूद्र पाखंडी विकलांग और विकलेन्द्रिय होते थे, वे समवसरण के बाहिर ही रहते थे और वहीं से प्रदक्षिणा पूर्वक नमस्कार करते थे" इस अर्थ में भी नपुंसकों का अप्रवेश नहीं लिखा है, इससे भी शास्त्री जी के द्वारा शुद्ध समझा हुवा पाठ समुचित नहीं मालूम होता है ॥ तथा स्वर्गीय श्रीमान् सेठ माणिकचंद्र ग्रन्थमाला से पण्डित नाथूरामजी प्रेमी के द्वारा प्रकाशित एवं दरबारीलालजी न्यायतीर्थ के तत्त्वावधान में संशोधित हुए मूल हरिवंशपुराण में भी पाखंडपांडवाः ही छपा हुवा है। सम्भव है, कि शास्त्रीजी के दृष्टिगोचर ग्रन्थ मे पाखडिषंढका· पाठ ही मिला हो, तो भी उपर्युक्त तीनों उल्लेखों पर ध्यान देकर उस पाठको अशुद्ध ही समझना चाहिये। इसका अर्थ यह भी नहीं है, कि समवसरण में नपुंसक घुस जाते हैं। इस विषय में तो हमारा और शास्त्रीजी का एक ही मत है। हमने अपनी पुस्तक में स्त्रियों को समवसरण में प्रवेश करने का निषेध भी नहीं लिखा है, और न हमारा यह अभिप्राय भी है, तोभी सम्भव है कि शास्त्रीजी के हृदय में यह बात आ गई हो, कि इस प्रमाण से यदि नपुंसकों का समवसरण में अप्रवेश मनवा दिया जायगा, तो सहज ही में यह सिद्ध कर दिया जायगा, कि मनुष्यों में से नपुंसकों को यदि समवसरण में घुसना निषेध लिखा है, तो अर्थापत्तिप्रमाण से स्त्रियों को समवसरण में जाने की बात डंके की चोट मनवादी जायगी। परन्तु यह बात तो निर्भ्रान्त सत्य

में पहिले ही से निर्विवाद सिद्ध है। ऐसी हालत में यह डंका पीटने की आशा भी तो व्यर्थ ही रही। उपर्युक्त रीति से पाखंड-पाण्डवा. शब्द का अर्थ हमने पाखंड करने में चतुर लिखा है, वह बेजा भी क्या है?

समवसरण में कौन २ जीव जाते हैं, इस विषय में शास्त्री जी ने जो विशद लिखा है, वह ठीक ही होगा? यदि सप्रमाण लिखते तो और भी सुन्दर होता। शास्त्री ने समवसरण में अभव्य प्रवेश को निषिद्ध लिखा है, परन्तु हमारी धारणा तो ऐसी है, कि समवसरण में अभव्य भी जाते हैं। इस धारणा में प्रमाण यह है कि :— "प्रश्न-भगवान् के समवसरण में बार २ भव्यजीवनि का गमन होना कह्या तो तहां अभव्य भी जाय है कि नहीं? उत्तर—ऐसा नियम तो है नहीं कि जो तहां भव्य जीव ही जाय है अभव्य नहीं। परन्तु विशेषपणा करि तहां भव्य जीव ही जाय है तातैं जहां तहां भगवान् के समवसरण में भव्यजीवनि का होना कह्या है, ऐसे तो बार बार कहने का प्रयोजन जानना। और जो कोई अभव्य जीव तहां जाय भी है तो पुण्यबंध तो ताकूं भी बहुत होय है तातैं भगवान के समवसरण विषैं भव्य तथा अभव्य ये दोऊ ही जाय है, या में कोई दोष नाहीं। परन्तु इतना विशेष है कि जैसे भव्य जीव के सम्यग्दर्शनादि गुणों की प्राप्ति होय है तहां तैसे तो अभव्य के नाहीं. होय है जातैं यह जातिस्वभाव है

वाकूं समस्त वादी प्रतिवादी माने हैं तातैं स्वभाव विषें किछू तर्क नहीं,, बड़ा तत्त्वार्थसार ४६ पृष्ठ ॥

भव्य स्त्रियों के समवसरण में अप्रवेश के विषय को हमने अपनी पुस्तक में नहीं लिखा, और न ऐसी हमारी मान्यता ही है। तिसपर भी शास्त्रीजी ने "भव्यस्त्रियाँ भी समवसरण में नहीं जातीं, ऐसा देखने में नहीं आया" इस प्रकार के लिखने का व्यर्थ परिश्रम क्यों किया। इससे भी पाठकों को निर्भ्रांति रूप में निश्चय हो जायगा, कि शास्त्रीजी ने हमारी पुस्तक को ध्यान से नहीं देखा है। जब हमारा और शास्त्रीजी का असच्छूद्रों को समवसरण में अप्रवेश के विषय में एक मत है, तब ऐसी हालत में दो शब्द क्यों लिखे ? इसको छोड़कर यदि एक ही शब्द लिखा जाता तो, शायद अधिक उपयोगी होता। हमने धार्मिक सम्यग्दृष्टि स्त्रियों की क्या चलाई, धार्मिक मिथ्यादृष्टि स्त्रियों के लिए भी सभी धार्मिक कार्यों की रुकावट नहीं लिखी, इसी प्रकार न सभी धर्मिक कार्यों के करने में आगम विरुद्धता लिखी, और न हम उन्हें शूद्र एवं तिर्यंचसदृश ही समझते हैं। हमने तो केवल यज्ञोपवीत के अभाव में न हो सकने वाले कार्यों का ही सप्रमाण निषेध लिखा है, अवशिष्ट सभी बातों के निषेध का कल्पितभूत खड़ा कर के भोली जैन समाज को एवं आदरणीय महिलासमाज को, हमारे विरुद्ध भड़काने का दुष्प्रयास करना ठीक नहीं है। हम स्त्रियों को नीच भी नहीं समझते हैं; किंतु आदर्शरमणियों के प्रति नतमस्तक हैं। फिर भी न जाने शास्त्रीजी. ने हमें विपरीत कैसे

समझ लिया है। इससे भी हमारी पुस्तक पर ध्यान न देना सिद्ध होता है।

अधिकारप्राप्त पुरुषों के लिए ही अभिषेक पूर्वक पूजा करने का शास्त्रीय विधान है, और वह सर्वथा मान्य है। परन्तु यज्ञोपवीत के अभाव से अनधिकारिणी महिलाओं के लिए भी यदि यह बात मान्य करली जाय, तो फिर यज्ञोपवीत के अपात्र शूद्रों को भी अभिषेक का निषेध किस बुनियाद पर किया जासकेगा? इस बात को शास्त्री जी खुलाशा लिखते तो उनका अभिमत निर्भ्रांत सिद्ध हो जाता। अभिषेक पूर्वक पूजा करने के लिए धवला का प्रमाण बतलाया है सो तो ठीक ही है, परंतु इसी प्रमाण से असच्छूद्रों के द्वारा अभिषेक पूर्वक ही पूजा का होना भी क्या शास्त्री जी को इष्ट है? महाराज समाज आप की गणना प्रौढ़ विद्वानों में करती है, अतः आप को जो कुछ भी लिखना या प्रकाशित करना हो, बहुत सोच विचार कर निष्पक्षतया आर्षमार्गानुसार ही लिखना या प्रकाशित करना चाहिये।

श्री सम्मेदशिखरजी के पूजाकेश की पैरवी करने वाले सज्जनों में से क्या किसी सज्जन ने साक्षी में यह समर्थन किया था, कि यज्ञोपवीत की अपात्र स्त्रियाँ भी अभिषेक पूर्वक ही पूजा करती हैं? यदि नहीं तो इसका स्पष्ट अर्थ यही तो निकलता है, कि वह सभी प्रयत्न अधिकारप्राप्त पुरुषों के ही लिये था। ऐसी हालत में इस घटना का उल्लेख करने वाले शास्त्रीजी के द्वारा, अकिंचित्कर शब्दों की भरमार से अपने दो शब्दों को परमावश्यक समझा जाना उचित तो नहीं है, क्यों कि इस प्रमाण से भी आप को जो स्त्रियों के द्वारा

अभिषेक कराने की नयी चिंता या शोच पैदा हो गया है वह मिट नहीं सकता। तोभी आप जो स्त्रियों के द्वारा जिनाभिषेक को वैध ही समझे जा रहे हैं, वह उचित नहीं है। इतना ही नहीं आप तो अपनी धुन में व्यस्त होकर यहां तक भी लिख चुके हैं कि यदि स्त्रियां पूजा कर सकतीं हैं, तो अभिषेक भी निःसंदेह कर सकती हैं। परन्तु आपने अपनी इस निःसंदिग्धता में आगम प्रमाण कुछ भी नहीं दिया, तब इस कोरी वाङ्मात्र असदिग्धता का क्या महत्व है ? शास्त्रीजी आप के समान आगम-प्रमाण कुछ भी न देकर यदि कोई व्यक्ति इस प्रकार कहना प्रारंभ कर दे, कि "स्त्रियाँ यदि त्रिलोकहितकर तीर्थंकरों को जन्म दे सकती हैं, तो वे स्वय ही मुक्त होकर आत्मकल्याण भी नि.सदेह कर सकती हैं" इस आगम विरुद्ध कल्पना का निषेध विना आर्षप्रमाणों के कैसे कर सकेंगे ? और यदि इस अनिष्टापत्ति के निषेध में आर्षप्रमाण देकर पिंड छुड़ाना ही इष्ट है, तो फिर स्त्रीप्रक्षाल विधान में भी आर्षप्रमाण आवश्यक है। केवल वचनमात्र से क्या सिद्धि होगी ?

स्त्रियों के द्वारा जिनाभिषेक और मुनियों को आहार दान हो या नहीं ? पंचामृताभिषेक कोई करै या नहीं ? इस की चिंता नहीं, परन्तु जो बात शास्त्रोक्त हो उसको सत्य मान कर श्रद्धान तो करना ही चाहिये" इस प्रकार स्वीकार करते हुए भी शास्त्रीजी को इन विवादग्रस्त बातों के प्रचारार्थ चिंतातुर क्यों होना पड़ा ? आज से ३०-४० वर्ष पहिले भी किसी प्रौढ़ विद्वान् को इन बातों के प्रचार से शांत समाज को अशांति की ज्वाला में फेंकने की बलवती

इच्छा क्या पैदा हुई थी ? श्रद्धान किसका कैसा है, इसकी परीक्षा के लिये क्या कोई सुनिश्चित कसौटी शास्त्रीजी की जेब में रहा करती है ? तिस पर भी शास्त्रीजी उक्त शब्दों के द्वारा अपनी उदासीनता की छाप जमाना चाहते हैं, सो क्या बांझ के बेटे को आकाश के फूलों से सजाने से कुछ कम है ?

एक भी विधायक प्रमाण से सर्वथा शून्य और गालियों से ओतः प्रोत ब्रह्मचारी सूरजमल जी की पुस्तक में तो शास्त्री जी को केवल उग्रता या कठोरता का आभास-मात्र ही हो पाया, और हमारी सप्रमाण पुस्तक में प्रच्छन्न कठोरता और उग्रता का वाहुल्य, न जाने क्यों मालूम पड़ा ? इसका निर्णय वे पाठक स्वयं ही कर लेंगे, जो दोनों पुस्तकों को सामने रखकर ध्यान पूर्वक पढ़ने का प्रयास करेंगे। हमारी समझ में तो शास्त्री जी को ब्रह्मचारी जी की पुस्तक में आभास भी नहीं मिलना चाहिये था, क्यों कि वह तो अपने अभीष्ट के अनुसार ही थी। अस्तु, जो कुछ हो गया सो हो गया, अब भी शास्त्रीजी को अपने हृदय से उस आभास को भी यथासंभव शीघ्र हटा देना चाहिये, ताकि उस पुस्तक की प्रमाणता और उज्वलता में किंचिन्मात्र भी फर्क न पड़ने पावे।

आगम विचारों को विवाद बताना योग्य नहीं है, तो भी यदि आप को विश्व के साथ एकता के नारे लगाना ही पसंद था, तो फिर आप स्वयं ही इस विवाद में क्यों कूद पड़े ? चिरकालीन विचार धारा की शांति को आपने कठिन कार्य समझा था, तो आप को यह समझ अपने द्वारा लिखे दो शब्दों के पहिले ही आपके हृदय में क्यों नहीं आई ? या जब ब्रह्मचारी सूरजमलजी आप के

पास अपनी पुस्तक लेकर आये थे, और उनके कहने के अनुसार आपने प्रस्तावना लिखना प्रारम्भ किया था, उस समय दुर्दान्त समय भी नहीं था ? आप की इच्छानुसार पुस्तक लिखने वाले ब्र० सूरजमलजी को भी आपने अशांति फैलाने वालों की गणना में पहिले नम्बर में नहीं सही, तो दूसरे नम्बर में भी क्यों नहा समझा ? और उनकी मनमानी आयोजनाओं को प्रोत्साहन क्यों दिया ? और १००-१२५ खास २ सेठ पण्डित त्यागियों के द्वारा शास्त्रों की समक्षता में शांतिपूर्वक एक ही दिन में निर्णय कर देने वाली तरकीब को, उनके द्वारा पुस्तक प्रकाशित होने के पूर्व ही ब्रह्मचारीजी के सामने क्यों नहीं रखा ? रखा भी हो, तो उन्हों ने क्यों नहीं उसे स्वीकार किया ? यदि उनको समझाने की शक्ति आप में नहीं थी, तो वह भी नहीं सही, क्या आप में भी स्वयं समझ जाने की शक्ति नहीं थी ? और यदि थी, तो फिर आप स्वयं भी इस अशांति को प्रोत्साहित करने के लिए सन्नद्ध क्यों हो गये ? औरों की बात तो जाने दीजिये, आप मे तो श्लोकों, शब्दों के अर्थों को समझने की भी शक्ति थी। फलतः आप को तो शब्दार्थों का संदर्भ समझने के लिए बनारसी अजैन विद्वानों की भी आवश्यकता नहीं थी। ऐसी हालत में आपको चाहिये था, कि अपने अनुयायी ब्रह्मचारी सूरजमलजी को, जो कि एक स्वाध्यायशील महान् व्याकरणी एवं साहित्यपारगामी विद्वान् हैं, अपनी निश्चित कसौटी पर कसकर इस अशांति की धधकती हुई ज्वाला में पड़ने से रोक देना चाहिये था। परन्तु आप न जाने किस भीतरी रहस्य के कारण उन्हें तो रोकने में समर्थ नहीं हो सके ? ऐसी हालत में आप को बनारसी अजैन विद्वानों में ऐसी कौन सी मान्त्रिक शक्ति प्रतीत हुई, कि जिसकी बदौलत एक ही दिन में

समस्त समाज उनके सहारे से आगम का निर्णय करलेगी। शास्त्रीजी महाराज समाज की बात तो जाने दीजिये, युग की आदि में श्रीऋषभदेव भगवान् का भी प्रभाव अपने खास पोते मारीचि पर भी हजारों वर्षों में भी नहीं पड़ सका, तो किसको मजाल है, कि इन पक्षव्यामोहियों के हृदय के फफोलों को शांत कर सके। इन फफोलों को शांत करने का केवल-एकमात्र उपाय यही था, कि आप भी इस धधकती हुई आग को फूकने से भी दूर ही रहते। आपको शांति के साथ विचार करना चाहिये था, कि आज से ३०-४० वर्ष पहिले तक यह बात तो जरूर थी, कि जिसके मनमें जो जँची हुई आम्नाय थी, उसी के अनुसार अपना अपना धर्मसाधन सभी करते थे। किसी का भी किसी के साथ वैर विरोध नहीं था। और सारी समाज में शांति का अखंड साम्राज्य था। उस समय पारस्परिक विरोधी बातों का कोई प्रचार या आंदोलन भी नहीं था, परन्तु अब कुछ आगमपंथी त्यागियों ने ग्रन्थ-मात्र को आर्षीय बताकर मनमानी प्रथाओं को चलाने का उद्योग प्रारंभ कर दिया है, और उन से प्रभावित होकर अलीगढ़ से क्षीरप्रक्षाल के समर्थन में १ ट्रैक्ट निकला, जयपुर से अभिषेक-पाठसंग्रह प्रकाश में आया, कुचामण से पुनः इन बातों की निष्प्रमाणपुष्टि हुई, कई एक निवृत्तिमार्गी वीतरागी निस्पृही साधुओं ने भी बेजा दबाव डालकर अबलाओं को श्रीजिनाभिषेकार्थ खुले मैदान बाध्य किया। और जब इन नूतन प्रथाओं की सिद्धि में कतिपय त्यागियों एवं प्रौढ़ विद्वानों से विधान मांगा गया, तब तो जैन समाज के किसी भी नेता पण्डित या त्यागीवर्ग ने यह नहीं सोचा, कि हम अग्रसर होकर अशांति का बीजारोपण क्यों प्रारम्भ करते हैं ? जो जैसा अपनी २ अम्नाय के अनुसार चाहे वैसा करैं। परन्तु समाज

में शांति बनी रहे। और जब बार-बार मांगने पर भी इन नयी प्रवृत्तियों में आर्षविधान नहीं मिला, और इन मनमानी प्रवृत्तियों की वृद्धि आकाश नापने लगी, तब उक्त तीनों ट्रैक्टों के प्रकाशन से त्रस्त होकर कतिपय त्यागी ब्रह्मचारी सेठ एवं पण्डितों की प्रेरणा, और सम्मतियों के बलपर ज्यों ही स्त्री-प्रक्षालनिषेध नाम का एक छोटा सा ट्रैक्ट निकला, और अपनी पोल चौड़े आने की नौबत आई, तो शास्त्रीजी को अशांति के स्वप्नों ने चारों ओर से घेर लिया, और लगे जोर से चिल्लाने, कि समाज में अशांति की आग धधक गई, संगठन का विघटन होने आया, यह समय इसके लिये उपयुक्त नहीं था, ऐसा नहीं करना चाहिये था, आदि आदि। शास्त्रीजी को तब तो अशांति का एक भी स्वप्न नहीं आया। यहाँ तक कि धार्मिक मुकद्दमेबाजी को भी स्थगित करने कराने के लिए जागृत दशा में भी प्रयत्न नहीं कर सके। और अब स्वप्नों में भी अशांति ही दिखने लगी। इतना ही नहीं, किंतु फरियाद करने के लिए सेठ साहूकारों के द्वार पर पहुँच गये। उपर्युक्त मनमानी बातों से त्रस्त होकर भी शास्त्रीजी के समान किसी अन्य सज्जन ने अभी तक भी किसी के सामने अशांति हो-जायगी, धर्म डूब जायगा, हम थोड़े ही रह जायगे, जल्दी से अपना न्याय अजैनियों से कराना चाहिये, आदि अभ्यर्थनाएं जाहिर की थीं। इन बातों पर पाठक शांत चित्त होकर विचार करें तो सहज में ही अशांति का मूल कारण पहिले कौन हुवा, यह बात सहज ही समझ में आ जायगी। और यह भी निश्चय हो जायगा, कि शास्त्री जी के द्वारा प्रदर्शित तरकीब से यह आम्नाय सम्बन्धी फैसला क्या सर्वमान्य हो सकेगा ? और क्या जैनधर्म के श्लोकों शब्दों और अर्थों का निर्णय बनारसी अजैन विद्वानों से भी होना संभव है ? मानलो कि, संभव भी

हो तो शास्त्रीजी को सोचना चाहिये था, कि यह निर्णय पं० माणिक्यचंद्रजी न्यायाचार्य, पूज्य क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी न्यायाचार्य, पं० लालारामजी शास्त्री एवं पं० बंशीधरजी न्यायालंकार आदि अनेकानेक जैन सिद्धान्त के पारंगत विद्वानों से नहीं हो सकेगा ? क्या इन विद्वानों ने अपनी सारी जिंदगी खपाकर भी श्लोकों शब्दों और अर्थों का संदर्भ ठीक ठीक बैठाने की भी शक्ति उत्पन्न नहीं हो पायी ? हमें तो पूरा विश्वास है, कि इस तुच्छ कार्य का सम्पादन कोई एक विद्वान् ही सरलतया कर सकता है। परन्तु जिन २ ग्रन्थों के श्लोकों शब्दों और अर्थों का निर्णय होना शास्त्रीजी को इष्ट है, उन २ ग्रन्थों की मान्यता या अमान्यता का निर्णय कैसे होगा ? और जब तक यह ग्रन्थों की प्रमाणता का निर्णय नहीं होता है, तब तक कौन २ किस २ की बातें मान्य करने के लिये तैयार हैं ? इस प्रकार जब समस्त ग्रन्थों की ही सर्व मान्यता सिद्ध नहीं है, तो कतिपय अजैन विद्वानों के वक्तव्य को कौन मानने को तैयार होगा ? सभी शास्त्रों पर समान श्रद्धा का स्वप्न अभी तक शास्त्रीजी को आही रहा है। यदि शास्त्रीजी को दृष्टि में जैन समाज में कोई त्यागी विद्वान् सेठ साहूकार ऐसा नहीं हैं, कि जिसकी निष्पक्षता सभी को स्वीकार हो, तो फिर समय २ पर बड़े २ विद्वान् भो आदर्श त्यागियों के ऊपर निर्णय का भार बार बार क्यों थोप दिया करते हैं ? आश्चर्य इस बात का है, कि शास्त्रीजी को बहुत दूर की सूझी है, जो कि बिल्लियों के झगड़े को निवटाने के लिए बंदर को न्यायाधीश बनाना चाहते हैं। क्या इस प्रकार से सामाजिक अशांति दूर हो जायगी ? इतने पर भी यदि शास्त्रीजी को यही अमोघ उपाय अच्छा लगता है, तो प्रथम ही शास्त्रीजी अपनी पक्षवाले सज्जनों को तो एक मत से तैयार

करलें, तब हमें प्रेरणा करें, शास्त्रीजी ने दलबंदी तो बतादी, परन्तु अपने दल का नाम निर्देश नहीं किया, और न यही बतलाया, कि आप के दल में कौन २ सज्जन हैं ? हमारी तो ऐसी धारणा है, कि अपनी दि० जैन समाज में कुछ मत-भेद रहते हुए भी शुद्धाम्नायी और तत्प्रतिपक्षी रूप में दलबंदी तो नहीं है। अस्तु, तोभी शास्त्रीजी के द्वारा कल्पित दलों के दलदलों मे शांतिपूर्वक त्राण पाने का तो सच्चामार्ग हमारी राय में यही है, कि उदाहरणों की शरण छोड़कर स्त्रीप्रक्षाल विधायक आर्षविधान को सामने रखकर ही इस प्रथा को प्रचलित करने का प्रयास किया जाय, और तब तक स्थगित ही रखा जाय। और यह यदि नहीं हो सके तो, अब दोनों तरफसे काफी विचार हो चुका है. अतः इस विसंवाद को यहीं पर स्थगित करके अपनी अपनी आम्नाय के अनुसार धर्मसाधन करने दिया जाय, और बलात्प्रचार भी न किया जाय। जिसका भला होना होगा, वह अपना उदासीन रूप में सच्चा मार्ग सुनिश्चित कर लेगा। अन्यथा जिसका जो कुछ होनहार है, उसको बदलने की शक्ति किसी मे नहीं है।

तत्त्वनिर्णय करने के लिए प्रेरणा करते हुए भी शास्त्रीजी के हृदय मे तत्त्वजिज्ञासुओं को भी आवेश में आ जाने की भावना क्यों पैदा हुई ? इसी लिए ही न, कि कहीं वे लोग अपने शांतस्वरूप परामर्श से आप के विपरीत निर्णय न दे डालें। यदि वस्तुतः इस अनहोनी अप्रिय घटना से डर आप को नहीं लगा था, तो आप को चाहिये था, कि तत्त्व-जिज्ञासुओं के ऊपर व्यर्थ आवेश में न आ जाने का प्रतिबंध आप न लगाते। क्या तत्त्वजिज्ञासुओं से भी कभी कोई दुर्घटना होने की संभावना है ?

अपनी पक्ष का व्यामोह ही समस्त पापों का जनक है, तब शास्त्रीजी की दृष्टि में तदतिरिक्त ऐसा कौन सा पाप बाकी रह गया, जिससे भय पैदा हो सके। पक्षव्यामोही के हृदय में धर्म अधर्म, सदाचार कदाचार, जैन जैनेतर, का भेद भाव रह ही नहीं सकता है। स्त्रियाँ तो प्रायः अबला ही होती हैं इसी लिये उन्हें पाप का डर भी अधिक रहा करता है, और अपने स्वाभाविक भोलेपन से वे गुरुओं की आज्ञा मात्र को भी न मानना ही पाप समझ लेती हैं। फलतः जब उन्हें यह विश्वास हो जाता है, कि यदि हम गुरुओं की आज्ञानुसार भगवान् का प्रक्षाल न करेंगी, तो गुरुमहाराज हमारे ऊपर रुष्ट होकर हम से आहार नहीं लेंगे। तब इस डर के मारे उन्हें जिनाभिषेक करना स्वीकार करना पड़ता है। अन्यथा जबतक यह बल प्रयोग नहीं था, तब तक स्त्रियों को भगवान् के प्रक्षाल करने की बात क्यों नहीं रुची थी ?

यदि आगमज्ञान और विवेक से काम लिया जाता, तो ये अशांति के कारण प्रचार में ही क्यों लाये जाते ? क्या इन के प्रचार का प्रारम्भ करने के पहिले सभी अपनी २ मान्यता के अनुसार धर्मसाधन नहीं करते थे ? उन में सहिष्णुता, एकता नहीं थी ? और क्या उस समय मुनिराज भी नहीं थे ? था तो सभी कुछ और धर्मसाधन भी हो ही रहा था। परन्तु अशांति के कारण सुषुप्तदशा में थे। यदि अभी भी इनको सुला दिया जाय, तो पूर्ववत् शांति के साम्राज्य होने में कुछ भी विलम्ब नहीं होगा।

श्री वर्द्धमानाय नम

ब्रह्मचारी सूरजमलजी के समाधान पर विचार

मंगलाचरण

निर्मार्जिते यत्पदपंकजानां ।
रजोभिरन्तःप्रतिबिम्बितानि ।।
जनाः स्वचेतोमुकुरे जगन्ति
पश्यन्ति तान्नौमि मुदे जिनेन्द्रान् ।।१।।

शास्त्रविरुद्ध बातों को अपने प्रभाव एवं सामुदायिक-शक्ति के द्वारा फैलाना समुचित नहीं है। और ऐसी बातों को हर प्रकार के सदुपायों से रोकना, या रोकने का प्रयत्न करना अनुचित भी नहीं है। इस नीति को हृदयंगत करने वाले निष्पक्ष विचारक प्रतिभा शाली शास्त्रज्ञ विद्वनों का अभिमत आर्षमार्ग से अनुमोदित विधान के अनुकूल होना चाहिये। क्यों कि हाईकोर्ट के जज वीतराग एवं सर्वज्ञ नहीं होते हैं। इसी कारण उनके द्वारा लिखे हुए भी कई निर्णय विपरीत रूप भी प्रमाणित हो चुके हैं। इस लिए धार्मिक आचरणों में उनका निर्णय विद्वानों के सिवाय साधारण जन को भी मान्य करना उचित नहीं कहा जा सकता। और उन का निर्णय भी तो पूर्व सुनिश्चित विधानानुसार ही होता है, अतः धार्मिक आचरणों की हेयोपादेयता का मूलाधार आर्षविधान ही है। सारांश यह है कि प्रकृत क्षीप्रक्षाल को यदि सैद्धान्ति-विधान कर्त्तव्य रूप में स्पष्ट कर दे, तो सभी को मान्य होगा

ही। उसका दिग्दर्शन न करके यदि कोई साधु महाराज किसी व्यक्ति विशेष को लक्ष्य कर के किसी व्रतविधान के साथ में स्त्रियों को अभिषेक के लिए उपदेश या आदेश करदें, या उनकी आज्ञानुसार कुछ स्त्रियों ने जिनाभिषेक कर लिया हो, या उन की सम्पूर्ण जीवनी के लेखक आचार्य उनकी इस जीवनलीला का वर्णन भी कर गये हों, या किसी महापुरुष ने अपने समक्ष स्त्रियों के द्वारा श्री जिनाभिषेक करा भी दिया हो, और ख्याति लाभ पूजा की इच्छा से इस काय के प्रचार में कोई त्यागी ब्रह्मचारी पण्डित एवं सेठ प्राणपण से सचेष्ट भी हो गये हों, तौभी यह कृति विधानाभाव में उपादेय न हीं मानी जा सकती है। शास्त्रों के मर्मज्ञ विद्वानों की दृष्टि में यह बात खेदजनक भी नहीं हो सकती, किन्तु सहर्ष सर्वमान्य और आचरणीय ही होती है। भले ही शक्ति या साधनों के अभाव में किसी व्यक्ति से उसका आचरण न हो सके, परन्तु श्रद्धान तो उसकी उपादेयता में निःशंक ही होता है। ये सभी कुछ होते हुए यदि कोई अभागा पुरुष अपने श्रद्धान को भी खो बैठे, तो फिर उसका कोई भी करे ही क्या।

ब्रह्मचारी जी ने इस बात को स्वीकार कर लिया है, कि उत्तर भारत में स्त्रीप्रक्षाल सर्वत्र प्रचलित नहीं था। परन्तु यह जो लिखा है, कि सौभाग्ययोग से दक्षिणी विद्वान् मुनिराजों ने यह प्रथा आगमप्रमाण पूर्वक फैलाई है, सो कतई गलत है। क्यों कि दक्षिण भारत में यह प्रथा अभी तक भी प्रचलित नहीं है। ब्रह्मचारी सूरजमल जी को अभी तक इस बात का भी ज्ञान नहीं है, कि दक्षिण प्रान्तीय विद्वान् भी स्त्रीप्रक्षाल को आगम के, एवं प्रचलित रीति के भी विरुद्ध ही समझते आये हैं। और अभी भी वैसा ही समझते हैं। भरतेश वैभव के कर्त्ता रत्नाकर कवि ने अपने भरतेशवैभव में

स्त्रीप्रक्षाल करने का स्पष्ट निषेध लिखा है। ये कवि दक्षिण प्रान्त के आगमज्ञाता महा विद्वान् थे। इससे साफ मालूम होता है, कि दाक्षिणात्य विद्वान् इस प्रथा को आगम से विपरीत मानते थे। इसी लिए दक्षिण कनाड़ा के प्रसिद्ध प्रसिद्ध मंदिरों में अभी तक भी स्त्रीप्रक्षाल की कौन भलाई, स्त्रियां मंदिरों के गर्भगृहों भी प्रवेश नहीं कर सकती हैं। देखिये इस विषय में श्री जैनबद्री के मठाधीश अपने पत्र में क्या लिखते हैं।

ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

नम्बर १०३। ५४-५५ मुहर श्री जैनमठ श्रवणबेलगुल

(मैसूर स्टेट)

ता० १२-१-५५

अहिंसा परमोधर्मः

स्वास्ति श्रीमद्रायराजगुरु भूमण्डलाचार्यवर्य महा बादवादीश्वर रायवादिपितामह सकलविद्वज्जन सार्वभौमाद्य-नेक विरुदावलीविराजमान श्रीमन्निजघटिकस्थान दिल्लि कन-काद्रि श्वेतपुर सुधापुर संगीतपुर क्षेमवेणुपुर श्रीमद्बेलुगुल सिद्धसिंहासनाधीश्वर श्रीमदभिनवचारुकीर्ति पण्डिताचार्यवर्य स्वामिजी :—

श्रीमान् पं० शिवजी रामजी रॉंची महोदयः— शुभाशी-र्वाद :— आप का पत्र संप्राप्त हुआ, तथा विषय विदित हुआ, आजकल भारत के जैन समाज में स्त्रीप्रक्षाल विषय में चर्चा चल रही है, इस विषय में हमारा अभिप्राय यह है,

कि स्त्रियों ने जिनमंदिर के गर्भगृह में प्रवेश कर भगवान् का अभिषेक करने के लिए अधिकारी नहीं हैं। इस क्षेत्र में तथा मूडबिद्री वगेरह क्षेत्रों में आजकल भी स्त्रियों ने जिन मंदिर के गर्भगृह में प्रवेश नहीं करती हैं। प्राचीन काल से भी इस प्रान्त में स्त्रियों ने जिन मंदिर के गर्भगृह में प्रवेश करने की तथा अभिषेक करने की प्रथा प्रचलित (चालू) नहीं है। प्राचीनकाल से भी जो परंपरा प्रचलित है उसको दूर कर वर्त्तमान समय में जिन्हों ने स्त्रियों ने भगवान् का अभिषेक करने का अधिकारी है इस तरह प्रचार कर रहे हैं, यह बिल्कुल उचित नहीं है। हम स्त्रीप्रक्षाल विधान का बिल्कुल निषेध करते हैं। आप जैनसंदेश में स्त्रीप्रक्षाल विधि का सयुक्तिक तथा आगम के अनुसार खंडन कर रहे हैं, इस को हम बिल्कुल पसंद करते है। आपके अभिप्राय के के साथ हमारा सम्पूर्ण सहमत है। इति भद्रं भूयात्।

यहाँ पर कनड़ी लिपि में भट्टारक जी के हस्ताक्षर हैं।

इसी प्रकार श्रीमूडबिद्री के मठाधीश पार्श्वकीर्ति जी भी महाराज ने अपने पत्र में लिखा है कि :—

श्रीवीतरागाय नमः

मूडबिद्री दि० जैनमठ
ता० २०-१-५५

श्रीमान् पं० शिवजी रामजी जैन पाठक जी को सद्धर्मवृद्धि-रस्तु, इत्याशीर्वाद आप की भेजी हुई पुस्तक और पत्र दोनों प्राप्त होकर आपके सुविचार मालूम हुवा। यहाँ पर स्त्रियाँ गर्भगृह को जाने की प्रथा, स्त्रीप्रक्षालन प्रथा दोनों भी नहीं हैं। वाग्देवी नाम एका स्त्री आरा महिलाश्रम में पढ़कर आजकल यहां कन्याशाला में अध्यापिका काम करती है वह उसका

घर का चैत्यालय में पूजा प्रक्षाल करती है उससे पूछने से मालूम हुआ कि आरा मे पं० चंदाबाईजी के साथ हम सब स्त्रियाॅ पूजा प्रक्षालन करतीं थीं। यहाँ पर आने के बाद मेरा घर का चैत्यालय में हमेशह करती हूँ, कही। यही प्रथा उत्तर भारत से इधर आया। देखिये सारा दक्षिण कन्नड़ा जिला में १४० मंदिर हैं एक मदिर मे भी स्त्रीप्रक्षालन नहीं है। मेरी मातृभाषा हिंदी नहीं हिंदी का ज्यादा अभ्यास नहीं लेखन मे दोष आजायगा सुधार कर पढ़ना।

पार्श्वकीर्त्ति महाराज मूड़बिद्री मठ

इन दोनों पत्रों से विदित होता है कि यह मनकल्पित प्रथा दाक्षिणात्य विद्वानों की देन नहीं है, और न वहाॅ पर इस प्रथा का प्रचलन ही है। अब ब्रह्मचारी जी अच्छी तरह से समझ गये होंगे कि इस प्रथा के प्रारम्भ होने मे उनका सौभाग्य है, या दुर्भाग्य ? अथवा इसके प्रारम्भ होने मे दाक्षिणात्य पाण्डित्य कारण है, या आपकी थोथी मनगढत कल्पना ? ब्रह्मचारी जी ने इस बात पर भी लक्ष्य नहीं रक्खा कि, शास्त्रीय विधानाभाव में भी हम इस प्रथा को आगम प्रमाण पूर्वक क्यों लिखे देते हैं। अब पाठक ही स्वयं निर्णय कर ले सकते हैं, कि इस प्रथा का दक्षिण से उत्तर में प्रचार हुवा, या उत्तर की कल्पित मान्यताओं का प्रभाव दक्षिण भारत में भी डालने की कुचेष्टा की गई। वस्तुतः इस प्रथा को अंकुरित करने का कारण कुछ महाराष्ट्रीय साधुवर्ग ही है। सन् १६२६ में जबकि पूज्य १०८ श्री शांतिसागर जी आचार्य महाराज आदि महर्षि दक्षिण से चलकर श्री सम्मेदशिखर जी की यात्रा करते हुए रॉची आये थे, उस समय उनके संघ में स्त्रियां प्रक्षाल नहीं करती थीं। इसी

प्रकार ललितपुर, कटिनी, मथुरा आदि जिन २ स्थानों में आचार्य महाराज का चतुर्मास हुआ था, वहाँ भी संघस्थ स्त्रियाँ श्री जिनाभिषेक नहीं करती थीं। और न इस प्रथा की प्रेरणा ही थी। कालांतर में उनके समक्ष में रहने वाले जब ऐलकजी महाराज को ज्यों ही मुनि होने का सौभाग्य मिला, त्यों हीं उन्होंने स्त्रियों के द्वारा श्री जिनाभिषेक कराने की बुनियाद डाली, एवं और भी अनेक प्रकार की नूतन क्रियाओं को जन्म दिया। और जब आचार्य महाराज को वे क्रियाएं नहीं रुची, तो उन्हें स्वयं ही आचार्य संघ से अलग ही होना पड़ा। और अब उन्हीं के अनुयायी इस स्त्रीप्रक्षाल की प्रथा को जोर देकर समर्थन करने लगे हैं। इसीसे उत्तर प्रान्त में क्षोभ पैदा हो गया है। इसी प्रकार उत्तरप्रान्त में पंचामृताभिषेक का यत्र तत्र प्रचलित होना भी ब्रह्मचारीजी ने मान लिया है। यह बात ठीक है, कि दक्षिण प्रान्त में पंचामृताभिषेक प्रचलित है, परन्तु उन्हें यह मालूम नहीं है कि यह प्रथा भी वहां पर प्राचीन काल में नहीं थी। देखिये इस विषय में भी पार्श्वकीर्त्ति भट्टारक जी महाराज क्या लिखते हैं। "आपने एकान्त रीति से विचार कर पंचामृत अभिषेक का निषेध किया है। आपने अपनी स्त्रीप्रक्षालादि निषेध पुस्तक में भरतचक्रवर्त्ती राणी के साथ मंदिर को जाकर पंचामृताभिषेक किया राणियों ने उस वक्त घी वगैरह अभिषेक की सामग्री से भरा हुवा कुंभ को भरतचक्री के हाथ में सौंप दिया, ऐसा अभिप्राय लिखा है। पंचामृताभिषेक का वर्णन चार सौ पांच सौ वर्ष के पहिले के साहित्य ग्रन्थों में मिलता है। रत्नाकर कविकृत भरतेश्वर वैभव ग्रन्थ में रहने की भोगसंधि का विचार कुछ आप ने बतलाया है। ऐसा ही योगसंधि का अभिप्राय देखिये उसके

पढ़ने से अत्यन्तमिथ्या दृष्टि भी एक दफा विराग होता है, अतः प्रारम्भिक साधक के शुभ भावना में समय व्यतीत करने को दूध घी दही नारियल का पानी इत्यादि से पंचामृताभिषेक बीजाक्षर मन्त्र पूर्वक करने की विधि आचार्य ने बताया है। अनेकांत नय से अथवा व्यवहारनय से पंचामृताभिषेक निषेध नहीं है" इस लेख में भट्टारक जी ने दो बातें मुख्यतया लिखी हैं, कि यह पंचामृताभिषेक चार पांच सौ वर्ष से अधिक पुराना नहीं है। और दूसरे इसका प्रचार अनेकान्त नय से हो गया है। अस्तु, इससे यह बात तो स्पष्ट हो जाती है, कि यह प्रथा प्राचीन आर्षमार्ग विहित नहीं है। केवल आधुनिक ग्रन्थों में ही है। इसी लिए उत्तर भारत में यह प्रथा वृद्धिगत नहीं हो पाई। ब्रह्मचारीजी महोदय यदि इस तथ्यांश पर विचार करते, तो इस आधुनिक मनोनीत प्रथा का हर्गिज समर्थन नहीं करते। दूसरी १ और आश्चर्य की बात यह है कि जिन जिन ग्रन्थों मे पचामृताभिषेक का वर्णन है, उन सभी ग्रन्थों में अभिषेक करना यज्ञोपवीत धारण पूर्वक ही विधेय बताया है। और महिलाओं को यज्ञोपवीत धारण करना किसी एक ग्रन्थ में भी नहीं बताया है। ऐसी सुनिश्चित दशा मे जब कि महिलाए स्वतः स्वभाव ही जिनाभिषेक के लिए अनधिकारिणी सिद्ध हो जाती हैं, तो इन अनधिकारिणियों को भी क्यों उत्सूत्र मार्ग में अनुचित प्रयत्नों को करते हुए ढकेला जाता है? महाराज आप की वचनपटुता से तो आगम-मान्यता महान् ही है। यहां पर प्रसगोपात्त यह प्रश्न उठाया जा सकता है, कि :—महामहिम १००८ श्री भगवान् गोम्मटेश्वर जी की विशालकाय प्रतिमा का पंचामृताभिषेक स्त्री पुरुष सभी मिलकर बड़े आनन्द और प्रमोद से करते है, और यह

ऐतिहासिक बात भी प्रसिद्ध है, कि जिस विशालकाय प्रतिमा का अभिषेक वीर चामुण्डराय के बड़े बड़े घडों से भी नहीं हो पाया, उसका अभिषेक एक बुढ़िया की छोटी सी दूध भरी लुटिया से ही हो गया था। इसका उत्तर यह है कि, यद्यपि वहां पर स्त्री पुरुष दोनों ही अभिषेक करते हैं, और कोई किसी का विरोध भी नहीं करता है, परन्तु उस सातिशयी देवाधिष्ठित विशालकाय प्रतिमा को १ लुटिया भरे थोड़े से दूध से ही पूर्णतता अभिषिक्त हो जाने के आधार पर स्त्रीप्रचाल एवं दुग्धाभिषेक को आर्षागम के अनुकूल मान लेना शेखचिल्ली के द्वारा स्वाभिमत कल्पना को सत्य समझने के समान निस्सार ही है। अन्यथा जरा से दूध से विशाल काय मूर्ति का अभिषेक हो जाने की कल्पना भी किसी के हृदय में स्थान नहीं कर सकती है। अतः सिद्ध हो जाता है, कि वह तो केवल अतिशय और चमत्कार ही है। चमत्कारों को आगम का रूप नहीं दिया जा सकता है, और न चमत्कारों से पूज्यता ही मानी जा सकती है, तभी तो श्रीसमंतभद्राचार्य ने बड़े गौरव के साथ लिखा है कि :—देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः॥ मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान्॥१॥ इस लिये वे सभी क्रियाएं शास्त्रसंमत नहीं हैं, तोभी कहीं २ पर कुछ न कुछ की ही जाती हैं, इसमें विवेक शून्य अंधभक्ति ही प्रधान कारण है। इन बातों को अच्छी तरह से जानते हुए भी ब्रह्मचारीजी ने अपनी प्रमाण शून्य पुस्तक को प्रकाशित कर ही दिया, और भोली जनता को दिग्भ्रांत कराने में उद्युक्त हो गये। महाराज किसी की रुचि बदलने की किसी में भी शक्ति नहीं है। इस बात को स्वीकार करते हुए भी सभी को अपने अनुकूल

बनाने के लिए क्यों व्यर्थ परिश्रम कर रहे हैं।

"जो लोग अपने टूटे फूटे हथियारों से आजकल की सुसज्जित सेना को जीतना चाहें, तो उनका यह प्रयास निष्फल ही होगा" इन शब्दों के द्वारा वो ब्रह्मचारी जी ने अपने हृदय में बसी हुई चिरकालीन भावना को बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है, कि पुराने धार्मिक शुद्ध आचरणों से तो जो साधारण जन समुदाय नये चाकचिक्य में फंसा हुवा है, उस पर विजय प्राप्ति असंभव है। और उसको भी भावुक कर लेना आप को अभीष्ट है, शायद इसी उद्देश से जन साधारण पर अपना इकछत्र साम्राज्य स्थापित करने के लिए ये मनोनीत नये हथियार सुसज्जित किये जारहे हैं। परन्तु हमारा तो यह दृढ विश्वास है कि इन नये हथियारों से भी जन साधारण के ऊपर अपना पूरा साम्राज्य नहीं जमाया जा सकता है। इस नयी रीति से भले ही किसी को कुछ यशोलाभादि भौतिक चमत्कार हो जाय, परन्तु आध्यात्मिक विकाश तो अपनी पुरानी शुद्धप्रवृत्ति पर डटे रहने से ही हो सकेगा। यह जमाना लड़ाई करने का नहीं है, और न इसके लिए एटम बंब सरीखे नये आविष्कारों को उपयोग में ही लाना चाहिये। अभी तो शांति के साथ आपस में मिलकर अपने २ घरों में रक्खे हुए बढिया पुराने चावल खाकर ही अपनी रक्षा करते रहना चाहिये। अर्थात् अपनी २ मान्यता एवं आम्नाय के अनुसार ही धर्म आचरण करते रहने देना चाहिये, इसी से सुख शांति सुरक्षित रह सकती है। इन ऊलजुलुस प्रवृत्तियों के विषय में कुछ भी लिखने का हमारा विचार नहीं था। परन्तु एक दो तीन तक भी नहीं चौथी बार भी हमें कुछ लिखने के लिये प्रोत्साहित किया गया, तब कहीं हमें इस दूसरे संकेत की ओर इसारा करना ही पड़ा।

ब्रह्मचारी सूरजमलजी ने अपने कोरे शाब्दिक पाण्डित्य के बल पर हमारी पुस्तक का नाम तो अशुद्ध सिद्ध कर दिया, जिस से हमें रंचमात्र भी अफसोस नहीं हुवा, क्योंकि साधारण व्यवहार में रूढ़िवशात् वैयाकरण पद्धति से असिद्ध शब्दों का भी प्रयोग देखा जाता है। परन्तु हमें तरस तो इस बात पर आता है, कि ब्रह्मचारी जी एड़ी से लेकर चोटी तक पसीने में तर होकर भी स्त्रीप्रक्षाल विधायक विधान एक भी उपस्थित नहीं कर सके, और केवल उदाहरण, उपालंभ, उपहास, एवं अपशब्दों से ही अपनी पुस्तक के १७१ पृष्ठ काले कर गये। तौभी सफल प्रयत्न नहीं हो सके।

स्त्रीप्रक्षाल शब्द का जो प्रचलित तात्पर्य है, उस को सभी अच्छी तरह से समझते हैं। और ब्रह्मचारीजी भी उसके तात्पर्य को नहीं समझते हों, यह बात भी ठीक नहीं है। विशेषता इतनी ही है, कि उन्होंने गुरुओं की असीम कृपा से, या किसी धुरंधर विद्वान् शास्त्रीजी से उच्चशिक्षा पाकर हमारी पुस्तक के प्रकाशित हो जाने के बाद, अभी हाल ही वैयाकरण सिद्धांत में परिपूर्ण निष्णातता प्राप्त की है, उसकी समाज पर धाक जमाने के लिए, या किसी ख्याति लाभ पूजा की अभिलाषा से स्त्रीप्रक्षाल शब्द का अर्थ "स्त्रियों का रजोदूरी करण, या प्रक्षाल शब्द का अर्थ भगवान् का मला-पहरण करना शुरू किया है। अन्यथा यदि ब्रह्मचारीजी महोदय पुराने वैयाकरणाचार्य होते तो श्रीमान् पं० श्रीलालजी पाटनी तथा पं० मनोहरलालजी शास्त्री के द्वारा प्रकाशित ट्रैक्टों में लिखे हुए इसी शब्द का यही अर्थ करके अपना अपूर्व पुराना पाण्डित्य हमारी पुस्तक प्रकाशित होने के पूर्व ही समाज के सामने रख ही सकते थे। स्त्रीप्रक्षाल शब्द

का अर्थ स्त्रियों के द्वारा श्रीजिनाभिषेक होना अभी भी सर्वाभिमत है, यही कारण है कि श्रीमान् वादीभकेशरी न्यायालंकार समाज प्रसिद्ध प्रौढ़ विद्वान् पं० मक्खनलालजी साहिब ने भी हमारी पुस्तक की समीक्षा लिखते हुए स्त्रीप्रक्षाल शब्द का अर्थ ब्रह्मचारी जी के समान नहीं किया, क्योंकि वे तो पुराने विद्वान् हैं।

आगम विहित अभिषेक यद्यपि शिर से होता है, और स्नान के त्यागी निर्ग्रन्थ गुरुओं के केवल चरण ही धोये जाते हैं, इन दोनों विधानों के बाद में कपड़े के द्वारा पोंछना भी तो होता ही है। देव गुरुओं में अटूट भक्ति एवं उनके परम पावन शरीर के स्पर्श से परिणामों की विशुद्धि होने का मुख्य उद्देश्य रहते हुए भी गौणतया रजः कण निवारण भी तो हो ही जाता है, और इसी लिए अभिषेक या प्रक्षाल के अर्थ में कपड़े से पोंछना भी तो अन्तर्निहित है। और ब्रह्मचारी महाराज भी ऐसा करते भी होंगे ही, तोभी न जाने किस भीतरी रहस्य के कारण प्रक्षाल करने वालों का उपहास करते हुए व्यर्थ ही अपनी पुस्तक के पन्नों को रंग बैठे हैं। शास्त्रों में नारकियों के बड़े २ निवास स्थानों को बिल, और राजादिक महापुरुषों के छोटे २ निवास स्थानों को प्रासाद रूप में वर्णन किया गया है। इसी प्रकार भगवान् के स्नान को अभिषेक, मुनियों के स्नान को दण्डस्नान या पादोदक, और साधारण मनुष्यों के स्नान को स्नानमात्र कहा गया है। यहाँ तक कि अभिषेक को जिनाभिषेक और राज्याभिषेक के अर्थों में भी प्रतिपादित किया गया है, और सर्वत्र मलापहरण सामान्यतया होता भी है। और सर्वत्र वस्त्रप्रयोग भी होता ही है। तोभी मलापहरण के तारतम्य के आधार पर उन क्रियाओं में भेद करना

ही पड़ता है। फलतः कभी कोई सचेल शिर से स्नान किया या कराया करते हैं, और कभी कोई केवल पाद प्रक्षालन या सुवर्णसंस्पर्शित जल छींटना तक किया या कराया करते हैं। और माध्यमिक तरीके अनेक प्रकार के हैं। तदनुसार जैसी जिसकी योग्यता होती है, वैसा ही उसके लिये किया या कराया जाता है। इस लिये महाराज जिसको जैसी योग्यता, मान्यता एवं अवकाश हो, उसको वैसा स्वतंत्रता से करने दीजिये। पाप का भय, आगमविरुद्धता का भय, केवल आप और आप के पक्षपातियों के शिर पर हो तो नहीं छा गया है। जरा शांति और गंभीरता भी रखिये। खाली पत्र रंगाई से सिद्धि होने वाली नहीं है।

आप ने तो शांति एवं गंभीरता को छोड़ कर अनर्थ करने पर कमर कसली है कि हमने जो जैन संस्कारविधि लिखी है उसमें हमने "तद्दिनमवधिं कृत्वा यन्त्रं नित्यं तु कन्यकाऽन्यो वा ॥ अभिषेकार्चनविधितः सन्मानयतादघौघघाताय" ॥ यह श्लोक उद्धृत किया है। और उसका अन्वय-तद्दिनमवधिं कृत्वा अघौघघाताय अभिषेकार्चनविधितः कन्यका वा अन्यः यन्त्र नित्यं सन्मानयतात् इस प्रकार से है, और अर्थ-जिस दिन यन्त्र को अपने घर में या चैत्यालय में स्थापित किया गया हो, उस दिन से लेकर पापपुंजों का नाश करने के लिए अभिषेक पूजा की विधि के अनुसार वह कन्या अथवा कोई अन्य पुरुष हमेशा यन्त्र की पूजा करता रहे, इस प्रकार हृदयंगत करके अभिप्राय रूप में "विवाहपर्यन्त रोज-वरोज पूजा करता रहे"। यह लिखा है। कर्तृस्वरूप में मूलपाठ है "कि कन्यकाऽन्यो वा, इस पाठक्रम की दृष्टि से तो हमारा किया हुवा अर्थ ही सुसंगत है। ऐसी हालत में भी आपने हमारे इस अर्थ को व्यर्थ ही अन्याय और अनर्थ क्यों कह दिया है।

आपको भी तो अपना अभीष्ट अर्थ लिखना था, तभी तो मिलान हो सकता था, परन्तु आप तो केवल वचनमात्र से ही भोली जनता को भावुक बनाना चाहते हैं। महाराज अर्थ को अनर्थ एवं अन्याय करने में तो आप ही सिद्धहस्त साबित होते हैं। क्योंकि तद्दिनमवधिं कृत्वा आदि श्लोक के बाद दूसरा श्लोक "यावत्परिणयनांते कृत्यं दैवतविसर्जनं न स्यात्। तावन्नित्यमहोऽर्चनमभिषेकोऽर्घ्यादिसंस्तवनं" यह है और इसका अर्थ लिखते हुए आपने "दैवतविसर्जनं" शब्द का अर्थ शासनदेवों का विसर्जन लिख दिया है। इस श्लोक में शासन शब्द की कुसुमकणिका भी नहीं है, फिर आप को शासनदेवों के विसर्जन की सुगंधि कहां से आ गई ? इसी लिए तो न, कि आप अपनी गुरुपरिपाटी के अनुसार श्रावकों के द्वारा उन शासन देव देवियों की पूजा कराना चाहते हैं, कि जिनका उत्पाद नियमत. मिथ्यात्व दशा में ही हुआ करता है। और बाद भी मिथ्यात्वी ही बने रहने में असम्भवता नहीं है। जिन आधुनिक ग्रन्थों में मणिभद्र क्षेत्रपाल पद्मावती भैरव कूष्मांडी आदि व्यंतर देव देवियों की पूजा का विधान है। उन ग्रन्थों की सर्वमान्यता को व्यापक बनाकर आप तो कृतकृत्य ही होना चाहते हैं, परन्तु इन शासन देवताओं की पूजा कैसे चल पड़ी, इसके इतिहास की तरफ जरा भी ध्यान नहीं देते। देखिये इस विषय में भी एक दक्षिणी श्रीपार्श्वकीर्त्ति जी भट्टारक महोदय क्या लिखते हैं ? "कई लोग जैन वंश में (मत में) जन्म धारण करने पर भी धर्म का कुछ भी परिज्ञान नहीं है। पंच नमस्कार मंत्र के अक्षर को उच्चारण करने को भी नहीं होता है। बीस तीस वर्ष के पहिले ऐसे लोग खेड़े में शूद्रों के साथ खेती करते रहते थे। आज कल के शहर में भी रहने वाले को

पंचनमस्कार मन्त्र का ख्याल नहीं है। इतना भी नहीं, खेड़े में रहने वाले जैन लोग शूद्रों के साथ मिलकर अम्बा बाई, चण्डिका, महाकाली, मन्दिर को जाकर शूद्रों से मुर्गी प्राणी को मोल लेकर शूद्रों के हाथ में देकर बलि पूजा कराते थे। ऐसा संदर्भ में अच्छे बुद्धिमान् आचार्य ने बता दिया है कि जैनधर्म में यक्षी यक्षादिक सम्यग्दृष्टि देवताओं को अन्नादि (नैवेद्य) से बलिकर्म का काम। आजकल गोमारी आपत् के समय कलिकुंड यन्त्रादि पूजा करके ग्रामादि देवता को बलिकर्म अर्घ्य पाद्य जल गंध नेवेद्यादि से बलि पूजा करते हैं। ऐसा करें तो कोई भी चण्डिकादि मिथ्या मन्दिर को जाते नहीं" इससे स्पष्ट हो जाता है, कि इन शासन देवों की पूजा उपासना का प्रचार जैनधर्म में कुछ लोगों ने केवल मिथ्या देवी देवताओं की पूजा उपासना को छुड़ाने के ही उद्देश से प्रारम्भ किया था। परन्तु ब्रह्मचारीजी तो सम्यग्दृष्टियों से भी इन देवी देवताओं की उपासना कराना चाहते हैं। और इसी के प्रचार की भावना से सफल प्रयत्न होने के लिए दैवतविसर्जन पाठ के अर्थ में शासन देवताओं का समावेश कर बैठे हैं। ठीक ही है कि जब मोही प्राणी को सीधी चाल से अपना मनोरथ सफल होते नहीं दिखता है, तब मनमाने खोटे उपायों को करने पर भी उतारू हो ही जाना पड़ता है। अन्यथा क्या कोई भी निष्पक्ष प्रौढ़ विद्वान् दैवतविसर्जन का अर्थ शासन देवों का विसर्जन होना स्वीकार कर लेगा ? कभी भी नहीं। उपर्युक्त प्रकार से पुल्लिंगी करता रहे क्रिया को बिना प्रमाण असंगतरीति से स्त्री लिंगी करती रहे" क्रिया बतलाने को, और उसी का समर्थन कराने के लिए बड़े बड़े संस्कृतज्ञ विद्वानों की शरण में पहुंचने को

चल पड़े। और स्वयं पूर्ण वैयाकरणी विद्वान हो कर भी देवों के विसर्जन में शासन देवों के विसर्जन का स्वप्न देखने लगे। अब पाठकगण समझ गये होंगे, कि हमने सत्य तत्त्व को छुपाया है, या ब्रह्मचारीजी महोदय ने विना आधार ही वीतरागी देवों की बराबरी व्यंतरों के साथ करके अन्याय या अनर्थ किया है। इस बात को कोई भी सहृदयी सज्जन अपने आप ही सरलतया समझ सकता है, तब इस तुच्छ बात के निर्णय कराने के लिये वर्णीजी महोदय या श्रीमान् पं० कैलाशचन्द जी को क्यों व्यर्थ कष्ट दिया जाय। आप स्वयं ही निष्पक्ष नजर से विचार करेंगे, तो तथ्यांश पर अवश्य पहुँच जायंगे।

उन्हीं के (शिवजी रामजी के) लिखे हुए श्लोकों में उस कन्या के द्वारा अभिषेक पूजा करने का विधान है, जिसको आपने यज्ञोपवीत धारण करने की अधिकारिणी न बतला कर उसीके द्वारा जिनाभिषेक के निषेध का दम भरते हुए भी विधान कर दिया है" ऐसा लिखकर ब्रह्मचारी जी ने यह निष्कर्ष निकाला है, कि हमने स्त्री के द्वारा अभिषेक पूजा करने का स्पष्ट विधान स्वयं कर दिया है, सो उस लेख का यह निष्कर्ष निकालना भी सफेद झूठ है। कारण प्रथम तो वहां पर जिनाभिषेक का कोई विधान ही नहीं है, हाँ वहां पर यन्त्राभिषेक का वर्णन अवश्य है, उसको भी स्वयं कन्या ही करै, ऐसा एकान्तत नियम भी नहीं है, क्योंकि ग्रंथकार ने स्वयं कन्यकाऽन्यो वा पाठ लिख कर पूरा खुलाशा भी कर दिया है। इससे ब्रह्मचारी जी को स्त्री के द्वारा प्रक्षाल की सिद्धि में हमारे द्वारा ही लिखे हुए विधान का जो दिवास्वप्न हो गया है, वह अर्थक्रिया कारित्व से रहित होने के कारण सर्वथा झूठ है। क्योंकि उसी श्लोक से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि अपने अधिकृत कार्यों को तो कन्या

करें। और यन्त्राभिषेक आदि अनधिकृत कार्यों को कोई अन्य पुरुष करे। तिसपर भी ब्रह्मचारी जी हमारा ही अर्थलोप करना समझते रहें, तो उनको प्रखर बुद्धि के सिवाय और क्या कहा जा सकता है। यन्त्र और प्रतिमा इन दोनों को एक ही समझना भी ब्रह्मचारी जी की अपूर्व मान्यता का परिचायक है। आप अपने इस मनोरथ की सिद्धि में यह हेतु देते हैं, कि यन्त्र का स्पर्श मूर्ति से होता है। महाराज यह हेतु तो अतिव्याप्ति दूषण से आक्रान्त है। क्योंकि यदि स्पृश्य प्रतिमा को स्पर्श करने वाले पदार्थों को स्पृश्य प्रतिमा के समान ही मान लिया जाय, तो प्रतिमा से सिंहासन, भामण्डलादि प्रातिहार्यों को भी अर्हन्त ही मानने का दुर्निवार प्रसंग उपस्थित हो जायगा, जो कि सर्वथा अयुक्त है। यहां तक कि धूल चूहे आदि को भी तत्सम मानने के लिए भी ब्रह्मचारी जी महोदय अपने दिये हुए हेतु की बदौलत इन्कार नहीं कर सकते हैं। बस, फिर क्या है किसी चूहे के अभिषेक से ही कम से कम ब्रह्मचारी जी महोदय को तो श्री जिनाभिषेक का फल प्राप्त हो ही सकता है। एक और अद्भुत बात भी सिद्ध हो जायगी, कि नयी प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा कराने के लिए जो जैन समाज प्रतिवर्ष लाखों रुपये खर्च किया करती है, उसकी भी जरूरत नहीं रहेगी। क्योंकि ब्रह्मचारी जी के द्वारा बतलायी गई नयी विधि (प्रतिमा से छूजाने पर यन्त्र को प्रतिमा रूप बन जाने की विधि) के द्वारा पुरानी प्रतिमाओं से नयी प्रतिमाओं को छुआ देने मात्र से ही काम चल निकलेगा, फिर व्यर्थ ही परिश्रम एवं आर्थिक व्यय क्यों किया जायगा। ब्रह्मचारी जी महाराज इस विषय में तो आप के साथ की हुई रैस में श्रीमान् पं० आशाधरजी को भी मात ही खाना पड़ा। क्योंकि उन्होंने तो जितना आगम

में देखा था, उतना ही विधान कर पाया, कि जिनेन्द्रदेव और श्रुत ये दोनों ही पूज्य पने की दृष्टि से समान हैं। परन्तु आपने तो आगम की भी परवाह न करके अनायास ही यह सिद्ध कर दिया, कि जिनेन्द्र देव और यन्त्र ये दोनों भी पूज्य पने की दृष्टि से समान ही हैं। क्या ही अच्छा होता, कि आप अपने नूतन वैयाकरणत्व के बल पर श्रीमान् प० आशाधर जी के "आप्तो हि श्रुतदेवयो" इस पाठ के स्थान में "आप्तो हि देवयन्त्रयोः" पाठ रख कर ततोऽधिक न सही, तो तत्सम तो हो ही जाते। यदि आप की दृष्टि में देव एवं यन्त्र दोनों ही एक समान न भी न जंचे तो श्रुत एवं यन्त्र, अथवा श्रुत और देव इन दोनों की एकान्ततः समानता का भी स्वप्न न देख लेना। यदि कदाचित् आपने यह स्वप्न देख लिया, और उसकी सत्यता की सिद्धि मे जरा सा भी प्रयत्न किया, तो फिर आप के द्वारा थोड़ा सा बचा खुचा द्रव्यश्रुत भी अपनी रक्षा हर्गिज नहीं कर सकेगा। फिर तो केवल कन्या ही नहीं, सभी महिलाए यन्त्र के समान शास्त्रों का भी खुशी से अभिषेक करने लगेंगी। और कहीं उन्हे पंचामृताभिषेक इष्ट हो गया, तब तो पाठक ही सोचें कि क्या २ नुकसान न हो जायगा। महाराज यदि इस अनर्थ से त्राण लेना हो, तो देव श्रुत एवं देव यन्त्र की पूजा में सर्वथा एकता की हठ छोड़कर तत्सम रूप से भिन्नता भी स्वीकार करना ही श्रेयस्कर है। हाँ यदि किसी आर्षग्रन्थ मे इनकी पूजा विधि की एकान्तत समानता ब्रह्मचारीजी की दृष्टि में आई हो, तो उसे शीघ्र प्रकाशित कर के अपने सम्यग्ज्ञान का परिचय करा देना चाहिये।

सिद्ध प्रतिमा के स्थान में यन्त्र पूजन किया जाता है, इस लिए कथंचित् यन्त्र को परमेष्ठी कहना या समझना

अनुचित नहीं है, तौभी यन्त्र स्वय परमेष्ठी नहीं है। क्योंकि स्थानापन्नता का उपयोग विभिन्न अवस्थाओं में ही होता है। और पंच परमेष्ठी की प्रतिष्ठा विधि के समान यंत्र की प्रतिष्ठा भी तो नहीं होती है। यन्त्र की पूजा वर और कन्या के लिए सामान्यतया वर्णित है, परन्तु जब वर और कन्या के अधिकारों पर विशेष ध्यान दिया जाता है, तब तो उनको अपने २ अधिकारों के अनुसार पृथक् पृथक् रीति से कार्य करना चाहिये। सारांश यह है, कि जहां कहीं पर भी स्त्री पुरुष दोनों के लिए १ साथ सामान्यतया उपदेश दिया गया हो, वहां पर उस उपदेश का पालन पुरुष को अपने अधिकार, और स्त्री को अपने अधिकार के अनुसार ही करना चाहिये, क्योंकि "सामान्यशास्त्रतो नून विशेषो बलवान् भवेत्" यह रीति सर्वत्र मान्य है। वर और कन्या मंदिर जी में जाकर पूजन अभिषेक आदि करें, इस सामान्य उपदेश का यह अर्थ निकालना कि "कन्या श्रीजिनाभिषेक करे" अनुचित है। या इसी बुनियाद पर स्त्रियों को श्रीजिनाभिषेकार्थ प्रोत्साहित करना भी समुचित नहीं है। इस से यह बात भी सिद्ध हो जाती है, कि पूजन और अभिषेक अलग २ ही हैं, अतः अभिषेक को पूजन का अंग कहना या मानना असंगत है।

विवाह के अंत में यन्त्र को मदिर जी में वर वधू पहुँचा दें, इसका अर्थ भी यह नहीं है, कि वर वधू स्वय अपने हाथ से ही यन्त्र ले जांय। विवाह के अत में वधू की कौन चलाई, वर भी स्वयं यन्त्र को ले जाने के योग्य नहीं रहता है, अत. यंत्र को स्नान किये हुवे पुजारी ही के द्वारा उच्चवर्णीय मनुष्यों के द्वारा उठाई हुई पालकी में विराजमान करके गाजे बाजे आदि समारोह के साथ श्री जिनालय में भिजवा देना

चाहिये, और इसका अर्थ यही समझना चाहिये, कि विवाहान्त में वर वधू ही यन्त्र को पहुचाते हैं। ठोंक पीट कर वैद्य बनाने की रीति से स्त्रीप्रक्षाल सिद्ध करना विद्वानों के लिए शोभा को चीज नहीं है। और न इस प्रकार की खींचातानी से स्त्रीप्रक्षाल सिद्ध ही हो सकता है। उसकी सिद्धि का सीधा उपाय केवल आर्षीय विधान ही हो सकता है। या दूसरा उपाय कोई यह भी मान सकता है, कि भावसंग्रह के सदैवाशुद्धता योनौ पाठ को अनार्ष कहकर पिंड छुड़ा लिया जाय।

जैन विवाह पद्धति के विषय में ब्रह्मचारी सूरजमल जी को श्रीमान् पंडित कुंजविहारीलाल जी से स्पष्ट विवेचन सुनना अभी इष्ट नहीं होगा, तभी तो उनके पास पूछने के लिए नहीं गये। अस्तु, उनके पास जाने की बात छोड़ दीजिये, आप तो समीप मे रहने वाले श्रीमान् पं० चैनसुखदास जी के भी पास बार २ जयपुर जाते हुए भी नहीं गये। यदि उनके पास भी जाकर जैन विवाहपद्धति के विषय में पूंछते तो, वे स्वयं अच्छी तरह से समझा देते, कि उन्होंने कौन विधान किस अभिप्राय से रक्खा है। कारण वे आपको संभवत. का पाठ भी बहुत अच्छी तरह वर्षों तक सिखा सकते हैं।

जैन संस्कार विधि में पंचपरमेष्ठी के सिवाय किसी भी देव का आह्वानन ही नहीं लिखा है। तो आहूयमानाः श्रीमंतो देवनिकाया शब्द से आप ने चतुर्णिकायी देवों को कैसे समझ लिया। और क्यों हमारे द्वारा जिनशासन देवों की पूज्यता का दिवास्वप्न आप को आ गया ? अस्तु, श्रीमन्तो देवनिकायाः शब्दों का अर्थ यहां पर बाह्याभ्यंतर दोनों प्रकार की लक्ष्मी से सुशोभित अरहंत गण आदि ही हैं, इन्हीं को

यहाँ पर आहूयमान एवं विसर्जनीय समझना चाहिये। पाठक गण स्वयं ही विचार करें, कि जब चतुर्णिकायी देवों को आहूयमान ही नहीं समझा गया है, तो उन को विसर्जनीय कैसे समझा जाय। क्या इसी निःसार मान्यता के आधार पर जिनशासन देवों की पूजा का मनमाना प्रचार किया जा सकता है।

अधिक आयु सम्पन्ना कन्या के विवाह समय में रजोधर्म युक्त हो जाने के प्रसंग में विवाह विधि को भी तीन दिन पर्यन्त स्थगित किये जाने का विधान है, फिर उस अवस्था में रजोधर्म की आशंका के सवाल को हृदयंगत कर के ही ग्रन्थकार ने कन्यकाऽन्यो वा पाठ द्वारा यह स्वयं ही स्पष्ट कर दिया है, कि उपर्युक्त हालत में या उसकी आशंका में अन्य पुरुष ही यन्त्राभिषेक करै। इतना स्पष्ट होते हुए भी ब्रह्मचारीजी स्त्रीप्रक्षाल का समर्थन करने चले हैं। इससे और क्या ज्यादा हास्यास्पद प्रसंग हो सकता है। विवाह विधि में से यन्त्राभिषेक हटाना, या अन्य किसी विधि को हटाना आवश्यक नहीं है। आवश्यकता तो केवल विवेक एवं समुचित संगति बैठाने की है। ऐसी हालत में विवाह नाजायज बताने, एवं रजस्वला दशा में यंत्राभिषेक हो जाने की संभावना ही नहीं। फिर भी न जाने ब्रह्मचारी जी को अनुचित काटछांट की, विवाह को नाजायज करार देने की, और रजस्वला के प्रायश्चित्त की धुन कहां से पैदा हो गई। हम जो अभी लिख रहे हैं, उसी अभिप्राय से सं० २०१० में भी लिख चुके हैं। संवतों के चक्कर में पड़ कर दुरभिप्राय निकालने का पाप उसी को लगेगा, जो विवेक शून्य होकर मनमाना लिखेगा या कहेगा।

जैनसंस्कार विधि में जो जेन विवाहपद्धति लिखी है, उसका सकलन जयपुर निवासी प० फतेलाल जी ने किया है, जिसको आपने भी स्पष्ट लिखा है। फिर तो उसकी रचना के विषय में हमारी रचना की आशंका करना निमूल ही है। उसमें श्रीजिनसेनाचार्य, पद्मनन्द्याचार्य एवं यशोनन्द्याचार्य ऋषियों के वाक्यों का उद्धरण पाया जाता है, इसके अतिरिक्त बहुत से श्लोक संकलनकर्त्ता की निजी रचना रूप मे है। जिन बातों का विशेष विवरण आर्षग्रन्थों में नहीं मिला, उनका संकलन कुछ अनार्षग्रन्थों से भी किया गया है, कुछ बातें प्रचलित परिपाटी के अनुसार भी लिखो हैं, परन्तु इसका अर्थ यह समझना, कि उन्हें अनार्षग्रन्थ भी मान्य थे, बिलकुल असत्य है। स्वर्गीय बैरिष्टर चँपतरायजी शीतलप्रसादजी एवं मा० दर्यावसिंहजी शोधिया ने भी कुछ त्रिवर्णाचार के श्लोकों के उद्धरण स्वीकार किये हैं, इस से क्या उन्हें त्रिवर्णाचार मान्य था, ऐसा आप सिद्ध करना चाहते है। जिसे इसकी मान्यता इष्ट न होगी, वह तो अपने आर्षमार्गीय दायरे को सकुचित ही रखेगा। विना पान के केवल सुपारी खाने का फल दरिद्रता की प्राप्ति, स्नानानन्तर स्वकीय शिर के बालों मे से अपने शरीर पर पड़ी हुई जल विदुआ का फल सात जन्म तक दरिद्रता की प्राप्ति, मैथुनोन्मुख कामाशक्त विषयी अपवित्र पुरुष के द्वारा वीर्यक्षरण समय में बलं देहि आदि मंत्र से योनिस्थ देवताओं की आराधना करने को प्रेरणा, आदि अश्लील, ब्राह्मणलीला से ओतः प्रोत अनर्गल एव भंडलीलाएं यदि ब्रह्मचारीजी की दृष्टि में आगम प्ररूपणाएँ ही दिखतीं हों, या इन सुगधियों को को सूघने में ही आनद झलकता हो, तो ब्रह्मचारी जी अपनी भोहों और नाकको अपनी इच्छानुसार चाहे जितनी फैला

सकते हैं। उनके इस विस्तार से चंपतराय जी बैरिष्टर शीतल प्रसाद जी एवं मा० दर्यावसिंहजी शोधिया को कोई अरुचि नहीं होगी। इसी प्रकार हमें भी कोई चिन्ता नहीं है। आज़ादी का जमाना है, ब्रह्मचारीजी को इस जमाने से लाभ उठा कर खूब विस्तार कर लेना चाहिये। ब्रह्मचारीजी महाराज ने श्रीअकलकदेव विद्यानंदि प्रभाचंद्राचार्य आदि के महान् ग्रन्थों का पठन रूप में न सही, तो स्वाध्यायशील रूप मे अध्ययन किया ही होगा। इन प्रसिद्ध २ जैनाचार्योंने जैनसिद्धान्त की मार्मिक ग्रन्थियों को सुलझाते हुए, जैनेतर ग्रन्थों के भी उद्धरण किये ही है, इससे यदि इन आचार्यों को जैनेतर ग्रन्थों की मान्यता नहीं हुई, तो बैरिष्टर आदि स्वर्गीय व्यक्तियों को और हमें भी अनार्षग्रन्थों की मान्यता कैसे हो जायगी। इसलिए हमारे कुछ आंशिक उद्धरणों के आधार पर हमसे उन ग्रन्थों की सम्पूर्ण मान्यता या अमान्यता का प्रश्न करना अरण्यरोदनवत् व्यर्थ ही है। आधुनिक अनार्ष या जैनेतर ग्रन्थों में सभी बातें अमान्य नहीं हैं। उनमें जो बातें आर्षागमानुकूल होने से अभीष्ट हैं, वे मान्य ही हैं। परन्तु उन ग्रन्थों मे जो बातें आर्षागम के विपरीत होने से अभीष्ट नहीं हैं, या जिन बातों का संक्षिप्त रूप में भी आर्षागम में विधान नहीं है, उनको भी मान्य समझना, या दूसरों को मनवाने के लिये दुराग्रह करना कदापि समुचित नहीं है। यदि कदाचित् दुर्जन सन्तोष न्याय से इन को भी समुचित मानलिया जाय, तो फिर सत्यार्थप्रकाश, गीता, कुरानशरीफ, बाइबिल आदि को भी सर्वथा स्वतःप्रमाण मानने का दुष्प्रसंग अनिवार्य हो जायगा। अतः इन बातों को अमान्य समझकर अलिप्त रहना ही श्रेयस्कर है। सूत्र रूप में रचित आर्षग्रन्थों के १ अक्षर को भी न मानने वाला शिवकोटि

आचार्य की आज्ञानुसार मिथ्यादृष्टि ही है, परन्तु इस आज्ञा को उत्सूत्रप्रन्थों के लिए भी कहना या लिखना तो समीचीन आज्ञा का उपहास ही करना है। भगवद्गीता के पांचवें अध्याय में १४-१५ नम्बर के न कर्तृत्वं न कर्माणि आदि दो श्लोक हैं, उनका उद्धरण कर के कर्त्तावादियों को उन्हीं के अभिमत ग्रन्थों की साक्षी देकर समझाने वाले जैनी को, यदि कोई विवेकहीन पुरुष यह समझ ले, कि उसे गीता मान्य हो गई, तो इसका इलाज किसके पास क्या हो सकता है। यदि कदाचित् ब्रह्मचारीजी अपनी इच्छानुसार हमारे द्वारा दिये हुए कुछ ग्रन्थों के आंशिक उद्धरणों के बल पर सम्पूर्ण ग्रन्थ की मान्यता हमारे ऊपर लादकर ही कृत कृत्य होना चाहते हैं, तो क्या स्वयं भी वैज्ञानिक अंग्रेज टिन्ड्याल साहिब की समस्त मान्यताओं को सुनिश्चित रूप से स्वीकार करने के लिए भी कमर कस चुके हैं? यदि यथार्थ में ब्रह्मचारीजी को इतनी तैयारी उपादेय दिख चुकी हो, तो महाराज यह सौभाग्य आप को ही मुबारिक रहे।

कुछ भट्टारक एवं उनके शिष्यों ने अपने को लिखा तो मूलसंघाम्नायी, और अपनी कृतियों में मूलसघ के विरुद्ध ब्राह्मणवाद का स्थान २ पर समावेश करके मनमाने ग्रन्थों की रचना कर डाली। जिस प्रकार कि श्रीहेमचन्दजी श्वेताम्बराचार्य ने पचासों वैतनिक जैनेतर विद्वानों से लाखों श्लोक बनवाकर उनको अपनी छाप से श्वेताम्बरीय आगमों का रूप दे डाला है। ऐसी हालत में, उनके ग्रन्थ किस प्रकार मान्य किये जा सकते हैं। परन्तु कुछ पक्षव्यामोही सज्जन उन्हें भी पूर्ण मूलसंघाम्नायी समझ कर तत्कथित असंगत बातों को भी आर्षकथित

मानने लगे हैं। और जो कोई विवेकी इनकी धांधल बाजी को नहीं मानता है, उसके ऊपर झूठा यह आरोप लगा दिया जाता है, कि तुम पूर्ण ग्रन्थ को प्रमाण न मानकर कुछ २ अंशों को ही मानतेहो, अतःमिथ्यादृष्टि हो। परन्तु यह नहीं शोचते हैं, कि ऐसे फतवे निकालने वाला कौन है। आर्षकथित तत्त्व के अनुसार जहां कहीं भी जितना भी कथन मिले, सभी को मानना योग्य है, और तद्विपरीत कहीं भी कुछ भी लिखा हुवा हो तो हर्गिज मान्य नहीं हो सकता है। तदनुसार यदि कोई आंशिक रूपमें प्रमाणता भी मानले, तो इसमें कोशने की क्या बात है। परन्तु जिसे कोशने की आदत पड़ी हुई है, वह कोशे बिना रह भी तो नहीं सकता है। गृहस्थों एवं मुनियों के चारित्र की उत्पत्ति वृद्धि और रक्षा के उपायों का विधायक चरणानुयोग है। और अपना श्रेष्ठ जीवन बनाने के लिए चरणानुयोग विहित मार्ग को उपादेय समझ कर, यथाशक्ति अपना सदाचार समुज्वल करना चाहिये। श्री जिनेंद्र भगवान् का प्रक्षाल करना गृहस्थों का कर्त्तव्य है, अतः प्रक्षालविधि में चरणानुयोग का विधान ही मुख्य है। परन्तु ब्रह्मचारी सूरजमलजी ने अभी तक एक भी स्त्रीप्रक्षाल विधायक चरणानुयोगी शास्त्रों का प्रमाण पेश नहीं किया। और केवल प्रथमानुयोगी शास्त्रों के उदाहरणों से ही स्त्रीप्रक्षाल सिद्ध करने के लिए दुःसाहस करते हैं। यदि प्रथमानुयोगी उदाहरणों से ही आचार विचार की मान्यता मानली जाय, तो फिर चरणानुयोग की आवश्यकता ही क्या रह सकती है। ब्रह्मचारीजी ने इस प्रधान बात की ओर तो लक्ष्य दिया ही नहीं। और उदाहरणों को चारित्र सम्बन्ध में विधि रूप न मानने वालों को

लिख मारा, कि प्रथमानुयोग पर तो हड़ताल फेर दी। महाराज हम तो प्रथमानुयोग को प्रथमानुयोग ही मानते हैं, और यह भी हमारा दृढ़ विश्वास है, कि पुराणों में जो २ पुरुष यथार्थ रूप में हुए हैं, उन्हीं २ पुरुषों के जीवन में सत्य रूप से सुघटित जीवनी का ही वर्णन है। हमारे किसी भी पुराणग्रन्थ में उपन्यासों के समान न तो कल्पित पात्रों का नामोनिशान है, और न उनकी जीवनचर्या में किसी भी प्रकार का मनोनीत व्यावर्णन ही है, तोभी वे चरणानुयोग नहीं हैं। और आप प्रथमानुयोग को ही चरणानुयोग रूप बता रहे हैं, इससे आपकी दृष्टि चरणानुयोग के विषय में क्या हुई, सो आप ही जाने। प्रथमानुयोग में धर्म अर्थ काम मोक्ष पुरुषार्थों का विवेचन, पुण्य रूप क्रियाओं का विवेचन, और बोधि समाधि की निधियों का भण्डार पाया जाता है। हम तो इन विषयों में प्रथमानुयोग को प्रधानानुयोग मानते हैं। और यह भी स्वीकार करते है, कि प्रथमानुयोग में पुराण चरितों का भी विवेचन होता है। परन्तु प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में घटी हुई समस्त क्रियाओं को हम तो उपादेय नहीं समझते हैं। मधु के द्वारा चंद्राभा का अपहरण, अपनेप ति को प्रसन्न रखने के लिए मदोदरी के द्वारा परम सती सीता को फुसलाना, परस्त्री लपटी सुमुख एवं परपुरुषानुगामिनी बनमाला दोनों को व्यभिचरित अवस्था में भी मुनि को आहारदान कर्त्ता बताना, हरिवंशीय राजा का स्वकीय पुत्री से सम्बंधकर लेना, मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्रजी के भाई लक्ष्मण का नर्त्तकी बनकर राज सभा में नाचना, अतुलबली श्रीनेमिनाथ भगवान् का जरासिंघ के डर से सुरि

पुर छोड़कर द्वारिका में जा बसना, सिंहोदर के डर से वज्रकर्ण के द्वारा अगूठी में जिनप्रतिमा रख लेना, अपने संयम का विघात करके भी मुनिसंघ की रक्षार्थ श्री विष्णुकुमार जी का वामन बनजाना, आदि प्रथमानुयोग कथित जीवन घटनाओं को उपादेय आप या आपके पक्षपाती ही भले मानलें, परन्तु कोई सिद्धान्त निष्णात निष्पक्ष विद्वान् तो इन जीवन घटनाओं को हर्गिज उपादेय नहीं मान सकता है। श्रीसमन्तभद्राचार्यजी ने वात्सल्य अंग की प्रधानता बतलाते हुए श्रीविष्णुकुमारजी मुनि महाराज को उस अंग के पालने में यद्यपि मुख्य लिखा है, तोभी क्या वे समन्तभद्राचार्यजी महाराज श्रीविष्णुकुमारजी की इस जीवन घटना को स्वकीय संयम की विराधक नहीं समझते थे? और क्या आप भी चरणानुयोग की प्रधान दृष्टि से श्रीविष्णुकुमारजी की इस जीवन घटना को संयम की अविघाती ही समझते हैं। यदि ऐसा ही समझते हों, तो फिर श्रीविष्णुकुमारजी मुनि महाराज ने गुरु के पास जाकर छेदोपस्थापना क्यों करायी? इसलिए जीवन घटनाओं को एकान्ततः उपादेय समझना भारी भूल है। और इसी भूल के आधार पर आप सिद्धान्त पारंगत विद्वान् हो कर भी हमें प्रथमानुयोग पर हड़ताल फेरने वाला बताते हैं। महाराज इन हजारों जीवनलीलाओं के आधार पर आप स्त्रीप्रक्षाल को तब तक कदापि सिद्ध नहीं कर सकते हैं, जब तक कि आर्षविधि उपस्थित नहीं करते। अपनी मनमानी मन्यताओं को प्रथमानुयोग के सहारे केवल उदाहरणों की भरमारों से चरणानुयोगानुमोदित सिद्ध नहीं कर सकते हैं। प्रथमानुयोग सम्बन्धी ग्रन्थों में खाली उदाहरण ही

होते हैं। यह बात भी नहीं है, उनमें भी यत्र तत्र विधिमार्गों का विधान भी रहता है। इसलिए चरणानुयोगी ग्रन्थों के अतिरिक्त यदि प्रथमानुयोगी ग्रन्थों में भी यदि कोई विधि-विधायक विधान हो तो उसे ही पेश करें। सो न करके व्यर्थ तूल खड़ा करना, और द्रव्य समय एवं शक्ति का दुरुपयोग करना कराना हितकारक तो नहीं है। फिर आपकी मर्जी, करो कराओ, जैसा आपका जी चाहे। विज्ञ पाठकों को सीता चंदना अंजना जीवयशा आदि के समुज्वल आचरणों से चरणानुयोग के अनुकूल ही शिक्षा लेनी चाहिये। इनके कुछ आचरण चरणानुयोग के आश्रित भी हो सकते हैं, परन्तु इनके सभी आचरणों के आश्रित चरणानुयोग हों, यह बात कदापि नहीं हो सकती है। यदि कोई व्यक्ति इनके सभी चारणों को चरणानुयोग विहित ही मानने लगे, तो क्या अंजना के द्वारा पूवभव मे प्रतिमाओं का द्रहनिक्षेप भी उपादेय समझा जा सकता है, हर्गिज नहीं। हमने अपने दिये हुए उदाहरणों में एक भी उदाहरण चरणानुयोग के विरुद्ध नहीं दिया है, अतः हमारे दिये हुए भी उदाहरणां को चरणानुयोग के समर्थक ही समझनैा चाहिये, न कि चरणानुयोग स्वरूप। ऐसी हालत में बंध्या को पुत्रवती कहने के अनुकूल हमारा लेख बताना समुचित नहीं है। अतः हमारी पुस्तक को असंगत लेखो से भरी हुई कहना या समझना ही असंगत है ? पंचमकाल कितना बीत गया, और कितना बाकी है। इस के मध्य में कौन कौन कलंकी उपकलंकी हो चुके हैं, और कौन कौन बाकी हैं ? किन किन के सिर पर कल्कि का शेहरा बंध चुका है, बंध रहा है, या आगे बंधेगा, वीरांगजादि अंतिम मुनि हैं, या नहीं, इत्यादि प्रश्नों की

उलझनों में खर्च करने के लिए हमारे पास शक्ति एवं समय नहीं है। क्योंकि हमें तो स्वकीय जीवन निर्वाहार्थ चक्की पीसनी पड़ती है। आप के समान हमारा योगक्षेम तो नहीं है। आप का योगक्षेम अप्रयत्नशील है, इसी लिए आप को इन प्रश्नों का, और समाधानों का खुलाशा विवरण प्रयत्नशील होकर करते रहना चाहिये। परन्तु साथ ही यह ध्यान रखना चाहिये कि कहीं इन बातों की सिद्धि एवं प्रकाश में आप के द्वारा कहीं आगम ही उपहास्यास्पद न हो जाय। निमित्त तो अनेक प्रकार के होते हैं, परन्तु जो उपादान की प्रगति में अनुकूल होते हैं वे ही सन्निमित्त समझे जाते हैं। सूतक के दिनों में भगवान का स्पर्श करने के विषय में समाज के प्रसिद्ध २ कुछ विद्वानों ने काफी चर्चा चलायी, और उनके सत्प्रयत्न से वह असंगत विवाद शांत भी हो गया। तो क्या जिन-जिन त्यागी, साधु, ब्रह्मचारी, पण्डितों ने इसके विषय में १ अक्षर भी नहीं लिखा, वे सभी के सभी उपहास्यास्पद हैं ? हर्गिज नहीं। फिर हमारा ही नामोल्लेख करके उपालम्भ क्यों दिया गया ? यदि आप की दृष्टि में हमारे में उपदेशक विभाग के मन्त्रित्व की अयोग्यता थी, तो आपको चाहिये था, कि हमारी नियुक्ति को ही नहीं होने देते। या अभी भी हमारा यह सौभाग्य आपकी दृष्टि में अनुचित ही जंच रहा हो, तो आप खुशी से इसका अपहरण भी करा ले सकते हैं, हमें इसकी कोई परवाह भी नहीं है। भरत-चक्रवर्ति ने सूतक अवस्था में श्रीऋषभदेवजी की पूजा की थी। ऐसा कहना या समझना कोरी आगम की अनभिज्ञता ही है। क्योंकि सूतक विधायक ग्रन्थों में विधि रूप में स्पष्ट लिखा है कि सम्राट् त्यागी आदि को सूतक लगने का व्यतिरेक है। तदनुसार

भरतचक्रवर्ति को जब सूतक लगा ही नहीं तो उसके द्वारा श्रीऋषभदेव भगवान् की पूजा अनुचित कैसे कही जा सकती है। इसी वजह से हमने उसकी पूजा को चरणानुयोग के अनुकूल होने से उदाहरण मात्र ही नहीं समझा है, किन्तु विधेय ही समझा है। सती चदंना के द्वारा जिनाभिषेक एवं जीवंयशा को स्वयं पात्रदान करने का शास्त्रों में उल्लेख भी तो नहीं मिलता, फिर हम उनके इन कृत्यों को विधेय रूप में कैसे समझ लेते ? फतवा देने की आदत तो वर्त्तमान कालीन बड़े २ कुछ साधुओं में, या उनके अनुयायियों में ही है, हमने तो सिद्धान्त के अनुकूल विधेय को समझा है। प्रथमानुयोग के ग्रन्थों में जीवंयशा आदि कतिपय स्त्रियों के द्वारा किये हुए, श्रीजिनाभिषेक के उल्लेख को ब्रह्मचारी ने चरणानुयोग की विधि समझ कर भारी भूल की है, जो कि सर्वथा अनुचित है। परन्तु किया क्या जाय, ऐड़ी से लेकर चोटी तक पसीना बहा कर, बारबार खोजेन पर भी जब आर्षागम में स्त्रीप्रक्षाल विधायक विधान का दर्शन नहीं हुवा तो दुर्भाग्यवश विवश होकर उदाहरणों को ही विधान ठहरा कर पिण्ड छुड़ाना पड़ा। यदि उदाहरणों की शरण न ली जाती, तो शायद किसी ऐसे ग्रन्थ का नूतन निर्माण करना पड़ता जिसमें कि सारी स्वाभिमत बातों का पं० दरबारीलालजी न्यायतीर्थ के समान पूर्णतया समर्थन होता। चलो अच्छा हुवा कि परिश्रम भी नहीं करना पड़ा और सफल मनोरथ भी हो गये। इस में फतवा को गुंजाइश ही कहाँ है ? सूतक मानने का सामान्य विधान मूलाचारादि आर्षग्रन्थों में है ही, ऐसी हालत में यदि उसके विशेष विवरण को अनार्ष ग्रन्थों के विधानानुसार मान्य कर जाय लिया तो, अनुचित क्या है ? इस बात को ब्रह्मचारीजी

महोदय ही खुलाशा करते तो अच्छा होता।

विद्यानन्दाचार्य अकलंकदेव पूज्यपाद उमास्वामि कुंद-कुंदाचार्य, जिनसेनाचार्य, वीरसेनाचार्य, समन्तभद्राचार्य शिवायनाचार्य आदि दाक्षिणात्य परमपूज्य वीतरागी साधुओं की अविस्मरणीय महती कृपा से आज जैन धर्म की वृद्धि हो रही है, इस बात को कौन अभागा अस्वीकार करेगा? परन्तु इन पूज्य पुरुषों के पवित्र नाम से अनेक ग्रन्थों का निर्माण करके जो मनमानी उच्छृखंल प्रवृत्तियों को फेलाया जा रहा है, वह अनुचित है। इस षड्यन्त्र के चक्कर में फंसने के लिए कौन सहृदय व्यक्ति तैयार हो सकता है? इन उच्छृखंल प्रवृत्तियों को न मानने वाले सज्जनों के ऊपर जो कुछ मनचले व्यक्तियों के द्वारा आदर्श आचार्यों को खोदेने को आशका का झूठा आरोप लगाया जाता है, इसको कौन समझदार विद्वान् समुचित समझेगा? इस अनौचित्य की परवाह न करके उन उच्छृखंल प्रवृत्तियों के हिमायती पक्षव्यामोही बलपूर्वक अपनी मनमानी धींगाधींगी के प्रचार में बेहद प्रवृत्त हो गये हैं, और हो रहे हैं। इससे सरल हृदयी जैन समाज का, और खास कर सिद्धान्त के मर्म को न समझने वाली भोली कुछ अबलाओं का कितना अनिष्ट होता जा रहा है, इसका अंदाज पाठकगण ही लगा सकते हैं।

हमारी पुस्तक में दी हुई दलीलों के समर्थन में जो आर्षप्रमाण उपस्थित किये गये हैं, उनका परामर्श छोड़कर ब्रह्मचारीजी महोदय सम्मति दाताओं के व्यक्तित्व पर हमला कर बैठे हैं, वह अकिंचित्कर ही है। सिद्धान्त तो यही है कि आगम के सामने किसी की भी सम्मति, एवं किसी भी विशिष्ट छद्मस्थ व्यक्ति के व्यक्तित्व की कोई भी कीमत नहीं हो सकती।

परन्तु प्रवृत्ति में तो विकृति आही रही है। सभी तरफ से सम्मतियाँ ली जाती हैं। और कुछ प्रधान पुरुषों की ओर से अनेक प्रकार के फतवे भी निकलते ही रहते हैं। इस अनौचित्य का जहाँ से प्रादुर्भाव हुवा है, वहीं पर स्थगित हो जाना न्यायानुमोदित है, परन्तु वह नहीं किया जाता है, यह अनुचित होने से उपेक्षणीय है। सम्मतियाँ आगमानुकूल भी हों तो भी उनकी ओर लक्ष्य न रख कर सम्मति दाता के व्यक्तित्व पर हमला कर दिया जाता है, और आगम विरुद्ध सम्मतियों के ऊपर किसी विशिष्ट छद्मस्थ पुरुष के व्यक्तित्व की छाप लगा दी जाती है, यह पद्धति ठीक नहीं है। अतः सम्मतियों के विषय का स्थगित रखना ही ठीक है।

जैन सिद्धान्त के तरतमरूप में क्रमबद्ध आचरणों को पालन करना सभी के लिए हितकारी है। उसका जो पालन करेगा वह सुख, शांति का भाजन होगा। आंशिक रूप में पालेगा तो वैसा ही फल होगा। यदि शक्ति के अभाव में निर्वाह न हो सके, तो भी श्रद्धान तो तदनुकूल ही रखना चाहिये। श्रद्धान की कसौटी निष्काम है, अतः परस्पर में एक दूसरों को कोसना, या किसी की प्रतिष्ठा के विरुद्ध रहोभ्याख्यान करना मनुष्योचित नहीं है। "सर्वथा स्वहितमाचरणीयं किं करिष्यति जनो बहुजल्पः" इस जिनाज्ञा को शिरोधार्य करना ही इष्ट माना गया है। क्योंकि जब अपनी इच्छानुसार स्वकीय परिणमन होना भी अशक्य है, तो अन्यान्य के परिणमन स्वेच्छानुसार करने की बात उठाना, अपनी पक्ष के समर्थन की कमजोरी ही प्रदर्शित करना है।

अभिषेक स्नान का ही रूपान्तर है, यह हम पहिले सिद्ध कर चुके हैं। स्नान के सर्वथा त्यागी भगवान् की दृष्टि में जितने

भी उसके प्रकार, एवं दधि जल आदि साधन हैं, वे सभी अग्राह्य हैं। इस बात पर ध्यान न देकर दधि आदि की पवित्रता एवं अपवित्रता के दलदल में जनता को उलझाना योग्य नहीं है। जिसके पेट से तीर्थंकर बनते हैं। उसके साथ जबकि स्वयं तीर्थंकर बनने की व्याप्ति स्पष्ट आर्षनिषिद्ध है तो बिना विधि दिये उसके साथ जिनाभिषेक की व्याप्ति बताना असंगत ही है।

हमने अपनी पुस्तक में महिलाओं के द्वारा जिन पूजा का निषेध नहीं किया है, और न करते हैं, तो भी ब्रह्मचारीजी ने अपनी पुस्तक के ५५ पेज में हमें उसका निषेधक लिख दिया है। पूज्य चन्द्रसागरजी महाराज की त्याग वृत्ति, या उनके व्यक्तित्व पर हमारी त्रिकाल में भी दुर्भावना नहीं है। उसका भी आरोप हमारे ऊपर लगाकर व्यर्थ हा अपने परिणामों को कलुषित कर लिया है। आंशिक उद्धरणों को देने मात्र से आपने हमारे ऊपर परिपूर्ण ग्रन्थ की मान्यता का व्यर्थ आरोपण करके हमें स्वयं स्वकीय प्रतिपाद्य बातों का ही निषेधक समझ लिया है। हमारी स्वीकृति का पूर्ण अनुभव रखते हुए भी आपने हमारे द्वारा अमान्य धारणाओं के विषय में व्यर्थ ही प्रश्न खड़े कर दिये हैं।

"गृहस्थ का अर्थ केवल घर में रहने वाला ही न होकर सपत्नीक है" यहाँ पर वाला के साथ ही का सम्बन्ध करके ब्रह्मचारीजी ने यह स्पष्ट कर दिया है कि गृहस्थ बनने के लिए घर में रहना भी १ कारण है। फलतः स्पष्ट हो जाता है कि केवल सपत्नीक ही गृहस्थ नहीं है, निष्पत्नीक भी गृहस्थ हैं। इधर की तो यह बात हुई, और उधर में आप यह भी लिखते हैं कि गृहस्थ को जो दो यज्ञोपवीत धारण करने को कहा है इसका अर्थ यह है कि

एक अपना और दूसरा यज्ञोपवीत अपनी धर्मपत्नी का"। इसके अनुसार सपत्नीक गृहस्थ तो दूसरे यज्ञोपवीत को अपनी धर्मपत्नीका समझ कर पहिन लेगा, और दान अभिषेकादि के योग्य हो जायगा। भले ही उसकी धर्मपत्नीका यज्ञोपवीत के अभाव में चाहे जैसा अनिष्ट हो जाय। क्योंकि उसका वही समस्त सर्वस्व है। परन्तु जो दैव दुर्विपाक से आजन्म धर्मपत्नी का मुख भी नहीं देख पाये, ऐसे हजारों अविवाहित हैं, और वे न किसी दिक्षाशिक्षा ही से परिचित हैं। ऐसे सज्जनों को ब्रह्मचारीजी की कल्पित घोषणानुसार किसका दूसरा यज्ञोपवीत मिलेगा? ऐसी हालत मे क्या उन्हें यों ही आजन्म धर्म कर्म विहीन होकर पशुवत् ही जीवन बिताना पड़ेगा? गृहस्थ का दूसरा यज्ञोपवीत यदि स्वकीय पत्नी का ही मान लिया जाय, तो जो वटु सावधि ब्रह्मचर्य की समाप्ति में विवाह न करके निरवधि ब्रह्मचारी ही रहता हुवा प्रतिमादि पालनरूप धर्मसाधन करना चाहता है, उसके दूसरा यज्ञोपवीत किसका होगा? यदि एक ही यज्ञोपवीत पहिने तो दान पूजा आदि का अधिकारी न रहेगा? और यदि उसके भी दो यज्ञोपवीत माने जायंगे, तो "दूसरा यज्ञोपवीत पत्नी का होता है" यह कहना असगत हो जायगा। इस लिए दूसरे यज्ञोपवीत को पत्नी का बताना मनमाना अनार्ष प्रलाप है। गृहस्थ और वानप्रस्थ को दो यज्ञोपवीतों का विधान है, ऐसा मानना ही सुसंगत है। सपत्नीक गृहस्थ को पत्नी के सम्बन्ध से यदि दो यज्ञोपवीत ठहराये जाँयगे, तो निष्पत्नीक वानप्रस्थ को यज्ञोपवीतद्वय मे किस का सम्बन्ध स्वीकार किया जायगा। ब्रह्मचारीजी लिखते हैं कि स्त्री का संस्कार पति के संस्कार में ही गर्भित है, क्योंकि वह पति की अर्द्धांगिनी है। यह आप का फरमान विवाहित स्त्री के लिये, अथवा

खींचातानी पूर्वक कदाचित् विधवाओं के लिए तो किसी तरह मान्य हो सकता है, परन्तु अविवाहित प्रौढ़ा कन्याओं एवं बालब्रह्मचारिणी महामहिम महिलाओं के संस्कार किस के संस्कारों में गर्भित किये जायंगे ? क्या वे पूर्णांगिनी होकर भी संस्कार विहीन नहीं रह जायगी ? इनके यज्ञोपवीत की सिद्धि किस के दो यज्ञोपवीतों के बल पर की जायगी ? शास्त्रों का स्पर्श, जिनागम का ज्ञान, और महान् विदुषी बनने में यज्ञोपवीत आवश्यक नहीं है। दान और जिनाभिषेक में यज्ञोपवीत की अनिवार्यता आगम विहित है। उसकी ओर कोई व्यक्ति लक्ष्य न दे, तो आगम तो अपने स्थान पर अक्षुण्ण ही रहेगा। और आगमाज्ञा बिना केवल उदाहरण अकिंचित्कर ही हैं। आहार देना और जिनाभिषेक के अतिरिक्त अन्य धर्माराधनाओं से स्त्रियों को कौन वंचित रखना चाहता है। हमारे द्वारा किये हुए नारियों के प्रति अन्याय का आरोप लगाकर ब्रह्मचारीजी नाहक ही क्यों उपहास्यास्पद बन रहे हैं। पुरुष, स्त्री और नपुंसकों की धर्माराधन-समानता में वाङ्मात्रातिरिक्त आर्षप्रमाण आवश्यक है। असमानता तो भाव संग्रह बता ही रहा है। हमने जिन बातों का निषेध नहीं किया है, उनके निषेध की आशंका ब्रह्मचारीजी को क्यों हो गई। मालूम होता है, कि अपने सर्वथा झूठ लिखने पर ही कमर कस रक्खी है। इसी बलपर आप समाज को उत्तेजित करना चाहते हैं। अन्यथा हमने हरिवंशपुराण के ५७ वें अधिकार के दो श्लोकों में स्त्रियों के जिनमंदिर में प्रवेश का निषेध कहाँ लिखा है ? मालूम होता है, आप को भी आँखों का आपरेशन कराना अभीष्ट हो गया है। समझ में नहीं आता, आपरेशन करा के आप के गुरुजी भी आपको अपनी

बराबरी करने से क्यों नहीं रोकते ? महिलाओं की सारी सत्ता, अपने २ पतियों मे ही विलीन हो जाती है, गोत्र बदल कर पति का गोत्र ही बन जाता है, इत्यादि बातों के आधार पर पति से भिन्न स्त्री का कोई अस्तित्व नहीं रहता है, तब इस हेतु के बल पर स्त्रीनिर्वाण की सिद्धि में क्या बाधा है ? और यदि स्त्रियाँ अपना अस्तित्व ही पति को दे देती हैं तो क्या आवश्यकता है कि वे कोई भी धर्माराधन स्वयं करें। पुरुषों के धर्माराधन में आधबटाई ब्रह्मचारीजी मानते ही हैं, फिर उनके अधिकारों की मीमांसा ही क्यों करनी चाहिये। ब्रह्मचारीजी ने बहुत सूक्ष्म बुद्धि से यह स्त्रियों का पति से भिन्न अस्तित्व न रहना सिद्ध कर पाया है। चले थे तो पुरुषों के साथ समानाधिकार सिद्ध करने, परन्तु खो बैठे स्त्रियों का पृथक् अस्तित्व। यज्ञोपवीत के अभाव में जिनाभिषेक एवं पात्रदान करने का अनधिकार तो अनेक शास्त्रों से सिद्ध है। ब्रह्मचारीजी महोदय क्या कोई आर्ष-प्रमाण इस तरह का रखते हैं कि विना यज्ञोपवीत के भी जिनाभिषेक एवं पात्रदान हो सकता है ? यदि हाँ, तो उसे ही क्यों नहीं प्रकाशित करते हैं ? और केवल प्रवृत्तियों एवं उदाहरणों से मनमानी मिथ्याबातों का समर्थन क्यों करना चाहते हैं ? जिसकी सिद्धि त्रिकाल में भी नहीं की जा सकती है। धवलादि ग्रन्थों में विना यज्ञोपवीत के जिनाभिषेक का अधिकार कहाँ दिया है ? जो आप व्यर्थ उनकी अप्रामणता का आडम्बर बतला रहे हैं। शुद्धाम्नायियों की दृष्टि में कोदों कम्मोद एक भाव नहीं बिकते हैं। आगमपंथी ही कम्मोद के भाव में कोदों को विवेक शून्य होकर बेचना चाहते हैं। विशिष्ट साधुओं की आगमानुमोदित चर्या

किस अभागे को अमान्य एवं अनादरणीय है? साधारण सदोष साधुओं पर तो ब्रह्मचारीजी भी असन्तुष्ट ही हैं। इसीलिए तो उन्हें भी आरा में किसी आगन्तुक साधु की मीठी समीक्षा करनी ही पड़ी। महाराज जिस प्रकार सामान्य साधुओं के प्रति आप की विषम-दृष्टि है, ठीक उसी प्रकार से किसी अन्य की भी विषम दृष्टि का होना आपको क्यों अखरता है, इसी लिए न कि आप के पौंगा पंथ को विवेकी मान्य नहीं करते हैं। खास दक्षिण प्रान्त मे स्त्रीप्रक्षाल की मान्यता नहीं थी, इसका प्रधान कारण यह है, कि वहां के प्रसिद्ध कवि रत्नाकरजी ने भरतेश वैभव में वहां की प्राचीन मान्यता का स्पष्ट विवेचन कर दिया है, और वर्त्तमान मे अभी तक भी यही मान्यता है, इसको हम जैनवद्री तथा मूडबद्री के भट्टारकों के पत्रों का उल्लेख करके इससमाधान के प्रारम्भ मे ही पूर्णतया सिद्ध कर चुके हैं। पाठकगण उसे देखकर स्वयं ही निर्णय कर सकते है, कि आधुनिक स्त्रीप्रक्षाल का समर्थन कलिकाल की कुटिलता के अतिरिक्त क्या कहा जा सकता है? अन्यथा किसी दाक्षिणात्य वीतरागी परमर्षिकृत ग्रन्थों में ही स्त्रीप्रक्षाल विधायक विधान क्यों नहीं है।

आदि पुराण के सातवें पर्व के ६ श्लोक लिखकर ब्रह्मचारीजी सफल मनोरथ होना चाहते हैं, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रथम तो अपरेद्यु शब्द का अर्थ ही छोड दिया है। दूसरे प्रदोष दिन रात्रि की संध्या का समय माना गया है, अतः अपरेद्यु और प्रदोष शब्दों का अर्थ प्रत्यूष काल भी हो सकता है। केवल दीपकों के प्रकाश से रात्रि का होना भी निश्चित नहीं है। महापूत चैत्यालय में रात्रि के सिवाय दिन में साधुओं का आवास इसी प्रकरण में लिखा ही है, परन्तु यह महापूत

चैत्यालय अयोध्या के पास महेन्द्रोद्यान में स्थापित चैत्यालय के समान किसी बगीचे में भी हो सकता है। विवाह आदि विधियों में अभी भी रात्रि में पूजा की जाती है। साथ ही आत्मानुशासन में प्रायः प्रविष्टो कलिः आदि पाठ देकर साधुओं को नगर में रहने का स्पष्ट निषेध मिलता है, उसकी ओर तो कुछ भी लक्ष्य न देकर मनमानी तौर पर प्रसंगोपात्त रात्रि के समय ग्राम चैत्यालयों में मुनि आवास एवं श्रीजिनाभिषेक सिद्धि करना भी ठीक नहीं है। इन श्लोकों में कहीं भी नहीं लिखा है कि श्रीमती ने जिनाभिषेक किया। अभिषेक तो वज्रजंघ ने ही किया था, श्रीमती साथ अवश्य थी। इससे क्या उसके द्वारा अभिषेक करना सिद्ध हो गया? हर्गिज नहीं। और यदि ऐसा हुवा मान भी लिया जाय तो महाराज यह भी तो उदाहरण ही है। परन्तु आप को तो उदाहरण ही सर्वस्व सूझते हैं, जो कि सर्वथा अकिंचित्कर हैं। विधान दीजिये ताकि यह अशांति वर्द्धक वातावरण सहज में ही शांत हो जाय।

ब्रह्मचारीजी दबी जवान से यह तो स्वीकार करते हैं कि दाक्षिणात्य मन्दिरों के गर्भगृहों में स्त्रियों का प्रवेश व्यवस्था के लिए निषिद्ध हो, तो कुछ अनौचित्य भी नहीं है। ठीक ही है, हमारा भी अभिप्राय औचित्य समर्थन का ही है। उत्तरप्रान्त में स्त्रियों के द्वारा जिनाभिषेक की प्रथा नहीं है, इस बात को भी स्वीकार करते हैं, परन्तु इसका आर्षोक्त कारण क्या है, इस बात पर प्रकाश डालने में कुछ झेंप क्यों हो जाती है। आप को तो मनमानी लिखने की काफी आदत है, इस कारण के खुलाशा में भी मनमानी ही लिख डालिये। और पेचीदा बात को सरल समझ कर कृतकृत्य हो जाइये। अलीगढ़ निवासी श्री पं० श्रीलालजी पाटनी ने सबसे प्रथम जब स्त्री-

प्रक्षाल की समर्थक पुस्तक लिखी थी, उस समय पाटनीजी के पास किस २ ने यह सवाल उपस्थित किया था कि स्त्रियों को प्रक्षाल करना ठीक है या नहीं ? या किस २ ने स्त्री द्वारा जिनाभिषेक होने का अवसर दिया था ? और किस २ ने आगम विरुद्धता का तूफान खड़ा किया था ? ये सभी बातें किसी ने भी नहीं उठाई, परन्तु जिन लोगों को शान्त वातावरण में अपनी क्षेम कुशल नहीं जंची उन्होंने ही आगम पंथों की आड़ में मनमाना प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया, और सारा दोष शुद्धाम्नाय के माथे मंडकर स्वयं दूध से धुले हुए साफ बन गये। पं० टोडरमलजी आदि भी तो दो अक्षर पढ़े ही थे, उन्हें आपके माफिक पोंगा पंथ बढ़ाने की फिकर नहीं हुई, इसमें भी कोई आन्तरगिक प्रधान कारण है।

आदिपुराण में श्रीजिनसेनाचार्यजी ने पुष्पवत्यरजस्वला आदि श्लोक के द्वारा स्पष्ट लिखा है, कि पुष्पवती होती हुई भी जो महाभाग्या महिला आजन्म रजस्वला नहीं होती है, वही तीर्थंकर पुत्र की माता बनने का परम सौभाग्य प्राप्त कर सकती है। 'स्त्रीणां शतानि शतशो जनयंति पुत्रान् नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।' परन्तु जिनकी योनि से सतत रजश्रव होना भाव संग्रह बताता है, वे स्त्रियाँ तीर्थंकरों की कौन चलाई, प्रधान पुरुषों की भी जननी नहीं हो सकती हैं। फिर न जाने सामान्यतया स्त्रियों को तीर्थंकरों की जननी मानकर अनेक कुतर्कों के बलपर उन्हें श्रीजिनाभिषेक करने के लिए व्यर्थ प्रोत्साहन क्यों दिया जाता है ? भगवान् को जन्म देने वाली महाभाग्या माता भी तो स्त्री के नाते तद्भवमुक्ति प्राप्त नहीं कर सकती है। फिर क्या आगम विहीन कुतर्कों के बलपर यह नहीं कहा जा सकता,

कि जो स्त्री मुक्तिगामी भगवान् को जन्म दे सकती है, वह क्या स्वयं मुक्ति प्राप्ति नहीं कर सकती है ? इस प्रकार कहने का निषेध तो तब ही सर्व मान्य हो सकता है जब कि आर्षप्रमाण उपस्थित कर दिया जाय। इसी प्रकार स्त्रीप्रज्ञाल का समर्थन भी तभी सर्वमान्य हो सकता है, जब कि उसकी सिद्धि में आर्ष-विधि उपस्थित कर दी जाय। मनचले व्यक्तियों को अनर्थ एवं अन्याय नहीं सूझा करता है और न वे अपनी समझ के सामने वृहस्पति की भी मानने के लिए तैयार होते हैं। तभी तो जिस माता की उसका पुत्र तो पूजा करे और उसी को न भगवान् की पूजा करने दिया जाय, न अभिषेक करने दिया जाय और आहार भी न देने दिया जाय, आदि आदि कितना अनर्थ है। इस स्वार्थ का भी कोई ठिकाना है, और क्या घोर पाप नहीं है ? ऐसे प्रश्न उठाकर भोली जनता को धर्मांधता के चकाचौध में ढकेल दिया जाता है। परमर्षि जिनसेनाचार्य आदि अनेक आचार्यों ने यज्ञोपवीताभाव में स्त्रियों के लिए आहारदान एवं जिना-भिषेक का निषेध किया है, अतः ब्रह्मचारी जी ने जो प्रश्न ऊपर उठाये हैं, उनका सीधा नहीं, तो परम्परा सम्बन्ध तो उन आचार्यों से है ही। ऐसी हालत में वे सभी प्रश्न वहाँ भी पहुँचा कर ब्रह्मचारीजी ने स्वयं महान् घोर पाप एवं अन्याय किया है। स्वाधिकृत सयम पालने का, या स्वाध्याय करने का, तो हमने निषेध किया भी नहीं है, तोभी हमारे ऊपर दोषारोपण करना एक व्रती के लिए शर्म की बात है।

जिनाभिषेक करने एव अहारदान करने में क्या आपत्ति हो गई। या अभिषेकार्थ जल के घड़े उठाकर देने में क्या महत्व था, उसे तो सीधा प्राचीनतम आचार्यों से या रत्नाकर महाकवि से ही पूछा जा सकता है। हमने तो उन्हीं की

आज्ञानुसार प्रतिपादन मात्र किया है। किसी के भी हाथ का भोजनादि हो, यह भी ब्रह्मचारीजी के कलुषित हृदय की मनमानी सूझ है। हमने तो ऐसा लिखा भी नहीं है, और न हमारा ऐसा अभिप्राय ही है। ब्रह्मचारीजी तो संतानोत्पत्यर्थ अनंग क्रीड़ा तक का भी व्यर्थ आरोप लगाकर निरंकुश हो गये हैं, क्योंकि चिरंतनाभ्यासनिबन्धनेरिता गुणेषु दोषेषु च जायते मतिः। और तो क्या लिखा जाय, आपने तो अपने मजे को दूसरे के ऊपर भी ढकेल देने की कुचेष्टा कर ही डाली है, 'भगवन् त्राहि कुतर्किणं।'

ब्रह्मचारीजी ने लिखा है, कि अभिषेक करते समय रजस्वला हो जाय तो इसका समाधान सभी जानते हैं। जिसको सभी जानते हैं, उसको ब्रह्मचारीजी ने क्यों नहीं लिखा? भोजन पकाते समय यदि कोई महिला रजस्वला हो जाती है तो चौके को उतार दिया जाता है। इसी प्रकार अभिषेक के समय प्रतिमा का क्या किया जाय? इस का खुलाशा न करके, केवल निर्भीकता का पाठ सिखना तो केवल उच्छृंखलता ही है। मासिक रजस्वलापन समाप्त हो जाने पर भी सतत रजःश्रव का अभाव कहाँ पर लिखा है, या सम्मूर्च्छन जीवों की उत्पत्ति एवं विनाश का अभाव कहां पर बतलाया गया है? क्या इन बातों को आगम प्रमाण से सिद्ध किये विना ही रजस्वला होने के अभाव हो जाने पर वृद्धा स्त्रियों को मोक्ष प्राप्ति का स्वप्न भी ब्रह्मचारी जी महाराज निर्भीक होकर देखना चाहते हैं? राजस्थानीय सत्य रूप में घटित दुर्घटना का उल्लेख करते हुए, हमारे ऊपर नाना प्रकार के निर्मूल दूषित आरोप तो लगा दिये, परन्तु उसका प्रायश्चित्त १७१ पृष्ठ काले करने पर भी नहीं

लिखा गया। जिन दूषितभावों का हमारे हृदय में रंच-मात्र भी आभास नहीं था, और न हमने अभी तक भी पूज्य श्रीचन्द्रसागरजी एवं पूज्य श्रीवीरसागरजी महाराज द्वय को महामलिन अंतःकरण से देखा ही है, उनके विषय में ऊटपटांग लिख मारना क्या क्षमितव्य उद्दण्डता है? संतुष्ट शब्द का प्रयोग निर्दोष प्रसन्नता मे भी हाता ही है। परन्तु जिसका हृदय जैसा होता है, उसे वैसा ही सूझता है। हमने तो अपनी पुस्तक में स्पष्ट लिखा है कि अपनी आज्ञा की पूर्त्ति करने वाली उस महिला के ऊपर वे महात्मा परम सन्तुष्ट भी हुए थे, जिसका खुलाशा यह है कि जिस प्रकार विनीत शिष्य को आज्ञा पालने में उद्युक्त देखकर आचार्यों को संतोष हुवा करता है उसी प्रकार वे भी प्रसन्न हो गये थे। इस में तो महामलिनता का कोई भी संकेत नहीं था, तिस पर भी ब्रह्मचारीजी ने अपने दूषित हृदय का खाका खींचडाला, इसका इलाज हमारे पास कुछ भी नहीं है। यदि वर्त्तमान में कोई वीतरागी मनःपर्यय-ज्ञानी अथवा अवधिज्ञानी भी होते, तब तो हम ब्रह्मचारीजी से तीन बार उठ-बैठी भी करा सकते थे परन्तु अब हो ही क्या सकता है। करे जाओ मनमानी धींगा धांगी, क्योंकि अराजकता के जमाने में सकोच का क्या काम।

चन्द्रप्रभ चरित्र के श्लोक में अथस् पाठ बिल्कुल गलत है, और उसके स्थान पर अधस् पाठ ही शुद्ध है। इसको हमारे लिखने पर ही मान लिया गया हो, ऐसा तो ब्रह्मचारीजी के लिए असम्भव ही है। परन्तु जब व्याकरण की रीति से अथस् पाठ की शुद्धता सिद्ध नहीं हो सकी, तो मान ही लिया जाय ऐसा क्यों लिखा गया? क्या नूतन परम वैयाकरणी

ब्रह्मचारीजी प्राचीनवैयाकरण रीति से अभी भी अक्षय् पाठ को शुद्धि का दम भरते हो हैं। अस्तु, जब चन्द्रप्रभ चरित्र के श्लोक से औप्रकाश सिद्ध नहीं कर सके तो दाक्षिणात्य महत्व पर पानी फेरकर झट से उत्तर [पुराण] की ओर दौड़ गये। परन्तु ध्यान रहे, उत्तर पुराण के बल पर भी आपका मनोरथ सफल नहीं हो सकेगा। क्योंकि वहाँ पर भी यही लिखा है, कि राजा ने महाभिषेक किया, रानी साथ में थी। यदि किसी प्रकार दुर्जन सन्तोष न्यायेन रानी के साथ रहने मात्र से राजा का किया हुवा अभिषेक रानी कृत भी मानलिया जाय, तोभी यह है तो विधान रहित केवल उदाहरण ही। इसके सहारे पुस्तक का कलेवर क्यों बढ़ाया गया। जिनबिंब के नीचे बैठ कर राजा रानी के स्नान करने में यदि ब्रह्मचारीजी को कोई असांगत्य मालूम होता हो तो वे हमारे पास चले आवें। हम उन्हें जिन बिम्ब के नीचे बैठ कर स्नान की सगति सुचारु रीत्या स्वयं उनका ही स्नान कराके समझा देंगे। और न सकेंगे, तो दुतर्फा मार्गव्यय ही देकर ब्रह्मचारीजी को सतुष्ट करा देंगे। इस से कोई यह न समझ जाय कि लज्जावती स्त्री को स्नान कराना नहीं बन सकेगा। ठंडे दिल से सोचने पर तो हर एक उपाय हो सकता है, परन्तु बिरनी के दंश से व्याकुल पुरुष के हृदय में ठंडाई का क्या काम।

हमने अपनी पुस्तक में स्पष्ट लिखा है कि श्रीजिनाभिषेक का सम्बन्ध साक्षात् अर्हन्त भगवान से नहीं किंतु तत्कृतिरूप प्रतिमा से है, तिस पर भी मंदिर तथा सब आगम शास्त्र नष्ट करने का व्यर्थ आरोप लगा दिया। मयारब्धं का अर्थ मैंने प्रारम्भ किया ही है, परन्तु "त्वमपि जलैभृतं एकं कुंभं जिनागारे

मुंच" ब्रह्मचारी जी महोदय ने इन शब्दों का "तू भी एक कलश लाकर भगवान् पर अभिषेक कर" यह अर्थ कौन से महा विद्वान् से पूछ कर किया है। क्या ऐसा अनर्थ करना एक स्वाध्यायशील महान् विद्वान् के लिए शोभा की चीज है। जबकि पंचप्रकारीय साधुओं में अरहंत भगवान् भी हैं, तो उनकी तत्कृतिरूप प्रतिमा से स्त्रियों का दूर रहना "कहाँ से उड़ालाये" लिखने के योग्य कैसे समझ लिया। जब कि साधारण साधुओं के शरीर का स्पर्श स्त्रियों के लिए सर्वथा निषिद्ध आगमप्रमाण से स्पष्ट है, तो परमवीतरागी स्नातकपदारूढ साक्षात् अरहन्त की तो जाने दीजिये उन की प्रतिमा का भी स्त्रियों के द्वारा स्पर्श होना कैसे सुसंगत ठहराया जा सकता है। मूलाचार और आचारसार के श्लोकों को उद्धहरण करने का हमारा अभिप्राय सिर्फ इतना ही था, कि जब आर्यिकादि उपचरित महाव्रती स्त्रियाँ भी साधु के शरीर को स्पर्श नहीं कर सकती हैं, तो साधारण स्त्रियाँ साधुओं की पगचप्पी एवं तीसरी भक्ति में साधु के चरणों का स्पर्श किस प्रकार कर सकती हैं। स्त्रियाँ आहारदान की अनधिकारिणी हैं, इस का कारण तो आर्षविहित यज्ञोपवीत का अभाव ही स्पष्ट लिखा है, जिसकी सिद्धि तो ब्रह्मचारीजी ने अभी तक भी नहीं कर पाई, और भानुमती के कुनवा जोड़ने की नीति से व्यर्थ का उपहास कर के हमें उलाहना दे डाला है। स्नातकत्व के नाते साधुओं मे अरहंत भगवान् अन्तर्निहित हैं ही, फिर भी मूलाचार और आचारसार के श्लोकों में अरहत भगवान् का नाम तक भी न समझना अविचारितरम्य घटना ही है। विवेक शालिनी बुद्धि के द्वारा यत्र तत्र उल्लिखित पारस्परिक विरोध सरीखे प्रकरणगत प्रसंगों की माध्यस्थरूप में सुचारुतया संगति बैठायी जा सकती है।

इस तत्त्व पर तो ब्रह्मचारीजी का ध्यान नहीं गया। और अपने पति से सात हाथ दूर रहने का दुराग्रह बता कर आहार्य पदार्थों को भी न सौंप सकना, या चौके का विस्तृत होना आदि अवांछनीय आशंकाएं सामने खड़ी करके भोली जनता को गुमराह करने पर उतारू हो गये। अन्यथा हमने कहाँ लिखा है कि महिलाएँ रसोई न बनायें, अन्य पुरुषों के साथ मुनियों को न पड़गाहें, पुरुषों को आहार्य पदार्थ दूर से फेंक कर या उछाल कर दें। आचार्य, उपाध्याय, साधु को पांच छः, सात, हाथ की दूरी से स्त्रियों के द्वारा नमस्कार करने का विधान एकान्त में ध्यानस्थ साधुओं की अपेक्षा है, इस में प्रमाण क्या है ? यदि नहीं है तो क्या शेष अवस्थाओं में साधु शरीर का स्पर्श करलें ? और यदि कदाचित् मुनि शरीर स्पर्श से विवर्जित होकर स्त्रियों को आहार के आयोजनामात्र करने से उन के सभी धर्मों के डूब जाने की आशंका है, तो फिर जो वृद्धा स्त्री अपने घर में अकेली ही है, या यात्रादि के प्रसंग में अकेली ही रहने का मौका आ पड़ा हो तो उसको अकेली अवस्था में अकेले साधुको आहार देने का निषेध क्यों किया जाता है। और उसके बचे खुचे धर्माराधन में ब्रह्मचारी-जी महाराज क्यों बाधा देते हैं। इत्यादि बातों पर विशेष ध्यान देने पर स्पष्ट मालूम हो जाता है कि जिनाभिषेक एवं पात्रदान के अतिरिक्त धर्माराधन करने के अनेक उपाय हैं, उनको महिला समाज करके अपना उद्धार कर सकती है। अथवा आहार दान की योजयित्री एवं अनुमोदिका होकर श्रीमती के समान पुरुषपर्याय पाकर दूसरे भव में ही मुक्ति प्राप्त कर सकती है। और उसी पर्याय में तो जिनाभिषेक एवं पात्रदान करके भी निर्वृत्ति नहीं पा सकती है, ऐसी हालत में व्यर्थ का संघर्ष उत्पन्न करके शान्त समाज को उद्वेजित करने

में क्या लाभ है। अतः अपनी २ आम्नाय के अनुसार जो कोई जहां पर जैसा करता है, उसे वैसा ही करने देना श्रेयस्कर है। यदि आगम विरुद्धता का तूफान खड़ा न करके सीधी साधी बातें करके कि भाई जहां जैसी प्रथा है उसी के अनुसार मानो, ऐसी ही शांत दशा का उपदेश एवं आदेश किया जाता तो आज जो किशुनगढ़ में मुकद्दमेबाजी खड़ी हो गई है वह न होती। और उसमें जो हजारों रुपयों का स्वाहा हो रहा है, वह दीन दुखियों के उद्धार में या अन्य किसी उपयोगी धर्मकार्य में लगाया जा सकता था। परन्तु जिन्हें बल देकर मनमानी हांकनी है उनसे शांत नहीं रहा जाता है। इसको भवितव्य के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है।

रुद्रों एवं नारदों के माता पिता एवं पूज्यपाद माघनंदि आचार्य को स्त्रियों की बदौलत ही छेदोपस्थापना करनी पड़ी थी, ऐसी हालत में ब्रह्मचारीजी यह कैसे लिख रहें हैं, कि "निर्ग्रन्थ साधु को सुन्दर सुन्दर स्त्रियों के इधर उधर होते हुए रंचमात्र भी कामवासना से युक्त नहीं पाया जाता और न किसी की किसी भी प्रकार की इस सम्बन्ध में शिकायत ही सुनी" जिस प्रकार ब्रह्मचारीजी को माघनंदि आचार्य की छेदोपस्थाना का विस्मरण हो गया है, क्या उसी प्रकार से अन्य किसी का विस्मरण नहीं हो सकता है ? या ब्रह्मचारीजी ने अपने ज्ञान में सारी व्यवस्थाओं के झलका लेने का ठेका ले रक्खा है। औरों की बात जाने दीजिये क्या ब्रह्मचारीजी स्वयं अपनी ही भावी सारी व्यवस्थाओं को एक समान ही बनी रहने के जिम्मेवार हैं? ब्रह्मचारीजी ही क्या वर्त्तमान में कोई भी किसी के भवितव्य का निर्णायक नहीं हैं, न जाने कब

किसका क्या हो जाय ? इस प्रकार लिखने से कोई महाशय यह भी न समझ जांय, कि वर्त्तमान में जितने भी आचार्य पुंगव, आचार्य कल्प, एवं साधु परमेष्ठी आदि महान् आत्मा हैं वे सभी शंकित हैं। नहीं नहीं हर्गिज नहीं, उनकी आदर्श तपश्चर्या या आदर्श वीतरागता तो सर्वथा आदरणीय, आचारणीय, श्रद्धानीय और माननीय ही है। ऐसे परमार्शाय साधुओं के द्वारा सतत जीवों का असीम उद्धार होता रहे। परन्तु सर्व सामान्य साधुओं में से किसी को भी छेदोपस्थापना का आंतरंगिक प्रसंग नहीं आ सकता, यह बात एकान्ततः नहीं मानी जा सकती। अतः महिला समाज का परम कर्त्तव्य है, कि वह ऊपर लिखे अनुसार ही अपना धर्माराधन करती रहे, और किसी के भी प्रलोभन एवं बहकाव में आने की चेष्टा भी न करे।

अरहंत सिद्धों की प्रतिमाओं में उनकी प्रतिष्ठा के समय क्या अरहंत सिद्धों के समस्त गुणों का आरोपण नहीं किया जाता है ? अवश्य किया जाता है, फिर प्रतिमा में शील के अठारह हजार भेद और चौरासी लाख उत्तरगुणों की मान्यता को अडंगेबाजी क्यों समझा जाता है ? भगवान् की मूर्ति को भगवान् के समान ही मानकर भी अडंगेबाजी बताना उचित नहीं है। फिर पुरुष भी प्रक्षाल क्यों करें ? इसका समाधान यह है, कि पुरुषों के द्वारा जिनप्रतिमाभिषेक करने की आगम में स्पष्ट विधि है। इसलिए पुरुष तो अभिषेक करने का अधिकारी है ही। यदि ब्रह्मचारीजी के द्वारा कहे हुए केवल मनुष्यत्व की समानता के आधार पर स्त्रियों के द्वारा भी जिनाभिषेक होना स्वीकार कर लिया जाय, तो इसी आधार पर स्त्रियों के समान हरिजनों को भी उसके योग्य

क्यों नहीं माना जाय। महाराज आपका यह मनुष्यत्व हेतु अनैकान्तिक होने से अकिंचित्कर ही नहीं, सर्वथा अनिष्ट-कारक भी है। स्त्री पुरुषों की समानता को जाने दीजिये, समस्त स्त्रियाँ एवं समस्त पुरुष भी एक समान नहीं हैं, न थे, और न कभी होंगे ही, इस सिद्धान्त की अटलता को मान्य करना ही विवेक शीलता है। दक्षिण के सभी मुनिराज शास्त्रज्ञाता और समस्त विषयों के ग्रन्थों के अध्याता थे, ऐसा लिखना भी एकान्ततः सत्य नहीं है, क्योंकि दाक्षिणात्य साधुओं ने उत्तरीय विद्वानों से भी वर्षों तक अध्ययन किया था। धारानगर निवासी पं० आशाधरजी ने अनेकों साधुओंको पढाया था, उस समय स्त्रीप्रक्षाल की कोई चर्चा नहीं आई। अभी हाल में पूज्य चंद्रसागरजी को पण्डित गौरीलालजी ने पढ़ाया था, पूज्य श्री वीरसागर जी को पं० खूबचद्र जी ने पढ़ाया था, पूज्य पाय-सागरजी एवं कुंथुसागरजी आदि तपस्वियों को ज्ञानसागरजी (पं० नदनलाल जी) आदि उत्तरीय विद्वानों ने पढ़ाया था। गतवर्ष में जब कि ईसरी में पूज्य वीरसागर जी महाराज का चतुर्मास हुवा था, उस समय भी उनके संघ के साधुओं को श्रीमान् पं० शिखरचन्दजी एवं पूज्य ब्र० श्रीलालजी काव्यतीर्थ ने भी पढाया था। प० भूरामल जी ने भी बहुत से पूज्य साधुओं को पढ़ाया था फिर यह कैसे माना या कहाँ जा सकता है, कि दाक्षिणात्य साधु विशिष्ट शास्त्रज्ञाता ही थे। उधर दाक्षिणात्य रत्नाकर कवि भी स्त्रीप्रक्षाल को उचित नहीं समझते थे, इस से यह तो स्पष्ट हो जाता है, कि दाक्षिणात्य पाण्डित्य के बल पर तो उत्तरप्रान्त में यह प्रथा नहीं पनपी। और यह भी स्पष्ट है, कि उत्तरीय पाण्डित्य भी इस दुष्प्रथा का जनक नहीं है, तोभी यह मानने से कोई भी इनकार

नहीं कर सकता, कि इस के पनपने में कुछ महाराष्ट्रीय साधुओं का ही प्रधान हाथ रहा है। तब प्रश्न यह रह जाता है कि इस मनमानी प्रथा को प्रोत्साहन मिला भी कैसे? इस प्रश्न के उत्तर में विज्ञ पाठक स्वयं ही निर्णय कर सकते हैं, कि महाराष्ट्रीय साधुओं ने किस बल पर इसको क्यों प्रोत्साहन दिया। हमारी समझ से तो इसके पनपने में कारण सिवाय अंधविश्वास, धनबल, जनबल, वाग्बल, तपोबल इंकड़ी, के कोई पाण्डित्य एवं आगम प्रमाणता नहीं है। ब्रह्मचारीजी की भविष्यवाणी को सार्थक करते हुए यदि एक दिन पुरुष को होटल में खाना और होस्पिटल में जन्म मरण होना ही केवल ज्ञान के अविभागी प्रतिच्छेदों में झलका होगा तो क्या केवल स्त्रीप्रक्षाल ही उसे रोक लेगा? उसके रोकने की शक्ति क्या अन्य किसी भी धार्मिकाचरण में नहीं है? परन्तु मुखमस्तीति वक्तव्यं भी तो कोई चीज है।

पण्डितैर्भ्रष्टचारित्रैः आदि श्लोक न तो हमारा बनाया हुवा है, और न आज का बना हुवा है, इस का निर्माण तो आज से ७०० वर्ष पहिले ही पं० आशाधरजी ने किया था। हमने तो कुछ शिथिलाचारी साधुओं को देखकर उसे उद्धृत मात्र किया है, ऐसी हालत में ब्रह्मचारीजी के द्वारा दिया हुवा घोर कलंक का टीका किस के माथे पर पहुँचता है, इसका कुछ भी ख्याल न रखकर मनचाहा लिख मारना समुचित नहीं है। हम आचार्य शांतिसागरजी महाराज आदि तपस्वी मुनि महाराजों को समस्त संसार की महा विभूति मानते हैं। और इसीलिये हमने उनके विषय में कभी कोई असुहावना अक्षर भी नहीं लिखा है, तो भी ब्रह्मचारीजी ने बार २ हमारे ऊपर सर्वथा झूठा कलंक लगाने की कुचेष्टा कर डाली है सो है तो उनके लिए भी अशोभनीक ही, परंतु हमारे पास

सिवाय संतोष के उसका उपाय ही क्या है। यदि स्त्रियाँ प्रक्षाल न करेंगी, तो किसका क्या बिगड़ जायगा, किसके स्वार्थ में बाधा आजायगी, किस के उपवासों में विघ्न हो जायगा, और किसके माथे पर राग का साम्राज्य आ धमकेगा ? फिर व्यर्थ ही क्यों वाग्जाल बिछा कर भोली समाज को अपने फंदे में फंसाने की चेष्टा की जारही है।

हमने जो आटा पीसने की मशीन खोल रक्खी है उसमें पूर्ण सावधानी करते हुए घुना अन्न न पीसने की परिपाटी कायम कर रक्खी है, तोभी कुछ न कुछ जीवघात हो ही जाता होगा। जिसका हमें हार्दिक दुःखभी है, और हम उसे छोड़ना भी चाहते हैं और वह क्षमितव्य या आलोच्य भी है, तो भी यह विचार करना चाहिये कि गृहस्थमात्र उद्योगी-हिंसा का सर्वथा त्यागी नहीं हो सकता है, जब कि अपने जीवन निर्वाह के लिए जघन्य प्रतिमा धारी श्रावक को भी खेती तक करना आगमविहित है तो क्या चक्की पीसना उस से भी अधम है ? परन्तु ब्रह्मचारीजी ने हमारी वैयक्तिक टीका टिप्पणी करते हुए आवेश में आकर जैनागम पर भी हड़ताल पोत दी है यह ठीक नहीं किया। क्या एकेन्द्रिया-तिरिक्त कीड़े मकोड़ों की अनन्तता लिखना जैनागमानुकूल ब्रह्मचारीजी समझते या मानते हैं ? इस बदहोसी से तो खामोशी ही सुंदर थी।

भामिनी के समान आहारदान की मध्यस्थ रीति बताते हुए भी हमने स्त्रियों के द्वारा मुनितनस्पर्शविवर्जित आहार देने का नितांत निषेध नहीं लिखा है, और न मुनियों के हाथ में एक ग्रास को रखने का ही निषेध किया है, तोभी ब्रह्मचारीजी

को जागृत अवस्था में भी कामवासना का अवांछनीय स्वप्न आगया होगा, इसीलिए अपने दूषित हृदय से अनेक प्रकार की आशंकाएं कर बैठे हैं। अन्यथा मुनियों को आहार न मिलना, स्त्रियों को आहार तैयार न करना, स्त्रीकृत आहार को मुनियों के द्वारा न लेना, स्त्री के द्वारा परम्परा से स्पर्शित आहार न लेना, पुरुषों के द्वारा बने हुए आहार के न मिलने की सम्भवना, या मुनियों को भूखे मरजाना, भविष्य में मुनि न बन सकना आदि अनेक बातों के विधिनिषेध को दुर्भावना का हमने कहाँ दिग्दर्शन किया है। जो कि सार्वभौमिक राज्य का ताज अपने शिर पर न रखकर हमारे शिर पर रखने की व्यर्थ कुचेष्टा की गई। अकेली महिला का महीनों तक बराबर एक ही मुनि को आहारदान कराते रहना तो प्रसिद्ध ही है परन्तु लिखते हुए हमारी लेखनी टूट जाना चाहती है कि हमने स्वयं एक प्रसिद्ध घराने की प्रौढ़ा महिला को रात्रि के ११ बजे एक मुनि की पगचप्पी करते हुए स्वयं देखा है, इतने पर भी उस मुनि के अंधभक्तों की आंखें अभी तक भी नहीं खुलीं। इस अशोभन बात को हृदयंगत कर के एक समाज प्रतिष्ठित दानी मानी सज्जन ने उसमें सुधार करने की प्रार्थना प्रारम्भ भी नहीं करपाई कि उनके ऊपर यू० पी० के एक प्रसिद्ध नगर निवासी उक्त प्रकार के अन्धभक्तों ने उनपर हमला बोल दिया। और ब मुश्किलतमाम उन्होंने वहाँ से भाग कर अपना पिंड छुड़ा पाया। परन्तु वह मुनि अभी तक भी अन्धभक्तों की कृपा से जीती जागती दशा में ही नहीं किंतु फूली फली दशा में अभी तक भी अपना योगक्षेम मना ही रहे हैं। ऐसी सर्वथा सत्य घटनाओं के होते हुए भी भोले भाले ब्रह्मचारीजी अभी तक भी यही लिखते हैं कि सभी साधु सर्वथा निर्दोष ही हैं। एक मुनि भगवान् कुंदकुंदाचार्य उमास्वामि,

समन्तभद्राचार्य आदि वीतरागी ऋषिपुंगवों की गल्तियाँ निकालकर अपने तुच्छ ज्ञानलव के नशे में चूर होकर अनर्थ परम्परा का बीजारोपण किये जा रहे हैं। उनकी दुष्कृतियों से त्राण पाने की सदिच्छा से एक अनुभवी विद्वान् ने उनसे विनम्र होकर प्रार्थना भी की, परन्तु वे कब मानने वाले, झट उन्होंने चेलेंज दे दिया कि हमतो अपना कार्य चालू रक्खेंगे ही देखें कौन रोक सकता है। शिष्टता के नाते वे विद्वान् तो तटस्थ हो गये। परन्तु उनके अंधभक्तों ने थैलियों के मुख खोलकर अपना और अपने प्राणप्रिय धर्म का ह्रास करना भी स्वीकार कर रक्खा है। ऐसी और भी अनेक दुघटनाएं हैं, जिनपर पूर्णतया प्रकाश डालना अरण्यरोदनवत् व्यर्थ है। ऐसे २ स्वच्छंद मुनिभेषियों को लक्ष्य में करके हमने पण्डितैर्भ्रष्टचारित्रैः आदि पाठ का उल्लेख करते हुए बठरैश्च तपोधनैः का बाक्मात्र ही प्रयोग किया था, परन्तु ऐसी सर्वथा सत्य हृदयभेदी दुर्घटनाओं की ओर लक्ष्य न करके, भोले भाले ब्रह्मचारी जी महाराज अभी तक भी यही लिखते हैं कि "अकेली स्त्री न मुनियों का आहार देती है और न कोई स्त्री मुनि का स्पर्श ही करती है, एवं न कोई इसका समर्थन हो करता है" धन्य है इस भोलपको। इतना ही नहीं किंतु सर्वथा निर्दोष वीतरागी आचार्यों के नामोल्लेख करके व्यर्थ ही हमारे शिर पर उन्हें दोषी बनाने का कलक लगाते हुए उक्त बठरों को प्रोत्साहित करने पर उतारू हो गये हैं। आदिपुराण के आठवें पर्व सम्बन्धी "स्वांगदीप्तिविनिर्धूततमसौ" आदि चार श्लोकों का जो अभिप्राय हमने अपनी पुस्तक में लिखा है उसे गलत बतला कर अपने किये हुए अर्थ को शुद्ध लिखा है। और इन दोनों अर्थों की शुद्धाशुद्धता का निर्णय कराने के लिए ब्रह्मचारीजी ने

काशीजी की पण्डित मण्डली को मध्यस्थ बनाने की राय दी है, उसकी निस्सारता का पूर्णतया दिग्दर्शन पण्डित इन्द्रलालजी शास्त्री के द्वारा लिखे हुए परमावश्यक दो शब्दों के निरसन प्रकरण में हम अच्छी तरह से कर चुके हैं। दूसरे नंबर में मध्यस्थ होने लायक हमारे गुरुवर्य पं० लालारामजी को स्वीकार किया है, और साथ ही यह भीष्म प्रतिज्ञा भी की है कि यदि मध्यस्थ महोदय की दृष्टि में श्रीशिवजीरामजी का किया अर्थ सही हो जायगा तो मैं उनका शिष्य हो जाऊँगा। पाठक गण स्वयं विचार करें, कि सप्तम प्रतिमाधारी त्यागी अध्ययनशील वैयाकरणी परम विद्वान् ब्रह्मचारीजी महाराज मुझ सरीखे असंख्य कीड़ों मकोड़ों को पीसने वाले अव्रती मूर्ख व्यक्ति के शिष्य कैसे हो जांयगे। और मुझ में इतनी क्षमता भी कहां जो ब्रह्मचारीजी सरीखे अनुपम व्यक्ति को अपना शिष्य बनाने की अशंका भी कर सकूं। तो भी सत्यासत्य का निर्णय होना तो आवश्यक ही है। इसी लिये उभयपक्षीय अर्थों को पाठकों के सामने रखा जाता है, हमारा लिखा हुवा अभिप्राय तो इस प्रकार है कि "ऊपर के चारों श्लोकों में स्पष्ट वर्णन किया गया है कि वज्रजंघ राजाने नवधाभक्ति श्रद्धादि सप्तगुण सहित हो कर आहार दिया था। क्योंकि ऊपर के सभी श्लोकों में कर्त्ता के एक वचन का ही प्रयोग किया गया है। और पंचाश्चर्यों की प्राप्ति भी स. पद देकर वज्रजंघ को ही हुई लिखी है। श्रीमती को साथ में रहना बताते हुए भी आचार्य ने दान-कर्त्ता तो केवल वज्रजंघ को ही लिखा है" और ब्रह्मचारी जी ने इन्हीं चारों श्लोकों का अर्थ इस प्रकार लिखा है कि "हमें खेद है कि श्रीशिवजीरामजी को मामूली श्लोकों का अर्थ करना भी नहीं आता। इन श्लोकों में जो दूसरा श्लोक

है उसमें "श्रीमत्या सह" स्पष्ट लिखा है। भोले यजमानों की आंखों में धूल झोंकने वाले इन शिवजीरामजी से हम पूछते हैं कि जब "श्रीमत्या सह" अर्थात् "श्रीमती के साथ" यह वाक्य है तो वहाँ एक वचन नहीं आता तो क्या द्विवचन आता? जिन्हों ने अपने शरीर की दीप्ति से समस्त अंधकार दूर कर दिया है ऐसे उन दोनों मुनियों को राजा ने अपनी रानी श्रीमती के साथ जल्दी से उठकर पड़गाहा और हाथ जोड़कर अर्घ देकर और नमस्कार करके घर में प्रवेश कराया। फिर दोनों ने ही उनके चरण धोकर, चरणों की पूजा कर उच्चस्थान में बिठलाकर, नमस्कार कर मन वचन काय की शुद्धि से विशुद्ध हो श्रद्धादि गुणों की सम्पत्ति के साथ उन दोनों गुणयुक्त मुनि राजों को विधि पूर्वक आहार दान दिया, जिससे पंचाश्चर्य की प्राप्ति हुई। इन श्लोकों से यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि वज्रजंघ ने मुनिराजों के चरण धोना पूजा करना तथा उनको आहार देना आदि सभी काम श्रीमती के साथ साथ ही किया था, जो कि "श्रीमत्या सह" इस वाक्य से सुस्पष्ट विदित होता है। जब "श्रीमत्या सह" यह पद है तो वज्रजंघ के साथ एक वचन न आता तो क्या आता" ये तो हुए हमारे और ब्रह्मचारी जी के किये हुए उभयपक्षीय अर्थ। अब पाठक गण मध्यस्थ चुने हुए पं० लालारामजी शास्त्री के द्वारा फैसले के रूप में दिये हुए अर्थ को भी ध्यान पूर्वक पढ़ें, जो इस प्रकार है कि "उन के शरीर की कांति से वन का अंधकार नष्ट हो गया था, ऐसे उन दोनों मुनियों को महाराज वज्रजंघ ने बड़े संभ्रम के साथ उठकर पड़गाहन किया ॥१७०॥ पुण्यशाली महाराज वज्रजंघ ने रानी श्रीमती के साथ २ बड़ी भक्ति से उन दोनों मुनियों को हाथ जोड़कर अर्घ दिया, नमस्कार किया,

और उन्हें अपनी भोजनशाला में ले गया ।।१७१।। वहाँ ले आकर उन्हें ऊंचे आसन पर विराजमान किया, उनके चरण कमलों का प्रक्षालन किया, उनकी पूजा की नमस्कार किया, और मन वचन काय की शुद्धि पूर्वक तथा श्रद्धा भक्ति आदि गुणों से विभूषित होकर उन दोनों गुणवान् मुनियों के संयोग से अत्यन्त विशुद्ध होकर महाराज वज्रजंघ ने उन दोनों मुनियों को विधि पूर्वक आहार दिया, जिससे वज्रजंघ के घर पंचाश्चर्य की दृष्टि हुई" इस फैसले को पढ़कर पाठक महोदय सत्यासत्य का निर्णय कर ही चुके होंगे। अब इस पर हमारा अभिमत इस प्रकार है कि १७०वें श्लोक के अर्थ से साफ मालूम होता है कि मुनि युगल को देखते ही राजा वज्रजंघ ने तो फौरन ही उठकर स्वयं मुनियों को पड़गाहा, इतनी देर में रानी श्रीमती भी आ गई और उसके साथ पुण्यशाली महाराज वज्रजंघने भक्ति के साथ मुनियों के हाथ जोड़े अर्घ दिया नमस्कार किया और भोजन शाला में ले गया। यहां पर यह विचारणीय बात है कि यदि मूलग्रन्थकर्त्ता या अर्थकरता को ये क्रियाएं दोनों के द्वारा करना इष्ट होता तो स्पष्ट लिख देते कि दोनों मुनियों को दोनों ही जने भोजन शाला में ले गये सो न लिखकर ले गये के स्थान में अर्थ कर्त्ता ने "ले गया" लिखा है तथा मूलग्रन्थ कर्त्ता ने भी गृहं प्रवेशयामासतुः न लिखकर प्रवेशयामास ही लिखा है, श्रीमती भी साथ में थी परन्तु प्रवेश कराने रूप क्रिया का कर्त्ता तो पुण्यभाक् राजा वज्रजंघ ही था। इसी अभिप्राय को १७३ वें श्लोक का अर्थ करते हुए अर्थ कर्त्ता ने बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है "कि महाराज वज्रजंघ ने उन दोनों मुनियों को विधिपूर्वक आहार दिया, जिससे वज्रजंघ के घर पर पंचाश्चर्य की वृष्टि हुई" श्रीमती

और वज्रजंघ का घर एक ही था। इससे अर्थकर्त्ता या मूलग्रन्थकर्त्ता को दोनों के द्वारा आहार देना या दोनों के पंचाश्चर्य की वृष्टि इष्ट होती तो मूलग्रंथ कर्त्ता तो अपने श्लोक में शुद्धिमुद्वहन् विशुद्धिभाक् अवाप सः एक वचनांत पद न देकर स्वयं द्विवचनांत पदों का ही प्रयोग कर देते, इसी प्रकार अर्थकर्त्ता भी अत्यन्त विशुद्ध होकर महाराज वज्रजंघ ने उन दोनों मुनियों को विधि पूर्वक आहार दिया, जिससे वज्रजंघ के घर पर पंचाश्चर्य की वृष्टि हुई ऐसी एकवचनांत क्रिया न लिखते, और एक ही श्लोक के अर्थ में दो बार वज्रजंघ के नाम ही का व्यर्थ उल्लेख भी नहीं करते। और केवल इतना ही लिख देते कि दोनों ने आहार दिया। फलतः दोनों को ही पंचाश्चर्यों की प्राप्ति हुई, सो नहीं लिखा। और लिख भी कैसे सकते थे। क्योंकि ये चुनिंदा मध्यस्थ अर्थकर्त्ता सागारधर्मामृत की स्वोपज्ञ हिन्दी टीका में स्पष्ट लिख चुके हैं कि आहार दान का कर्त्ता तो वज्रजघ ही था। श्रीमती तो कर्त्ता न होकर केवल कारयित्री ही थी। दूसरे एक बात यह भी तो थी कि आदि-पुराण के आठवें पर्व के २८३ वें श्लोक की आदि में ही श्रीमद्भगवज्जिनसेनाचार्यजी ने अवदानानुमोदेन इत्यादि पाठ देकर श्रीमती को दान की अनुमोदना करने वाली ही स्वयं लिखा है। अब ब्रह्मचारीजी भी हृदय थाम कर शोचें कि हमने यथार्थ तत्त्व का प्रतिपादन किया है कि आप ने भोले यजमानों को राजी रखने की चेष्टा की है। यह बात दूसरी है कि हमारे यजमानों की, अपनी आम्नायगत मान्यता हमारे संयोग से पहिले से ही हमारे अनुकूल चली आई हो।

हमने अपनी पुस्तक में आरावाली श्रीमती पूज्या चंदाबाईजी के निमित्ताधार पर लिखा था, कि नाम प्रधान का ही होता है, परन्तु सर्वथा यह भी नहीं है। स्त्री पुरुषों के संयोग

से सन्तान उत्पन्न होती है, एक के बिना दूसरा कुछ भी नहीं कर सकता है, तोभी पुरुष की प्रधानता होने से संतान पुरुष की ही कहलाती है। परन्तु यह प्रधानता भी ददसार में ही मानी जाती है, ननसार में नहीं। खुलाशा इस प्रकार है कि सीताराम के पुत्र अयोध्या में तो राम के पुत्र ही कहे जाते थे। परंतु जनकपुरी में तो वे सीता के ही पुत्र कहे जाते थे। तो भी ब्रह्मचारीजी ने तो आंख मीच कर इस प्रधानता का दुरुपयोग कर डाला है। आदिपुराण के ५०८ वें पृष्ठ पर लिखे हुए दोनों श्लोकों में सोम श्रेयांस की रानियों का नामो निशान भी नहीं है, तो भी प्रधानता की आड़ में उनकी रानियों के द्वारा आहार देना भी लिख ही डाला है। ग्रन्थकर्त्ता ने स्पष्टतया सोम श्रेयांस दोनों को आहार दाता बतला कर दोनों के स्थान में द्विवचनान्त पदों का प्रयोग किया है, इसी प्रकार यदि उन्हें स्त्री द्वारा आहार दान इष्ट होता तो श्रीमती वज्रजंघ के प्रकरण में भी अवश्य ही द्विवचनान्त मात्रालाघव करके श्रीमत्या सह रूप में मात्रागौरव कदापि नहीं करते परन्तु, उन्हें तो आहारदान का कर्तृत्व केवल वज्रजघ के लिए ही मान्य था इसी से शब्दगौरव की भी परवाह न करके एक वचनान्त पदों का ही प्रयोग किया है। इसी विषय को दान विचार के कर्त्ता ने तो और भी सुस्पष्ट लिखा है, कि आहारदान का कर्त्ता वज्रजंघ ही था। पं० आशाधरजी ने श्रीमती को स्पष्टतया योजपित्री ही लिखा है, क्योंकि उन्हें पूर्वागत आर्षपद्धति के अनुसार श्रीमती द्वारा आहारदान का निषेध करना था, सो कर दिया। इस से बढ़कर और क्या खुलाशा करते? आदिपुराण में भी निषेध ही लिखा है, श्रीमता के श्रेयांस होने में मुनिदान का प्रभाव, नहीं किन्तु मुनिदानानुमोदन का प्रभाव ही कारण

लिखा है। सेनापति के साथ फौज लड़ती है परन्तु सेनापति के निपात होने पर सेना भाग जाती है, तब सेना का भगना कहा जाता है या सेनापति का? महाराज आप के द्वारा गृहीत सर्वथैकान्त जैनागम से कतई विरुद्ध है। अकेले पुरुष के द्वारा आर्यिका को पड़गाहन करना, एवं आहार देना निषिद्ध नहीं है तौभी नवधा भक्तियां तो यथायोग्य ही की जानी समुचित हैं। पांचगज दूर रहने का कदाग्रह करना बाल की खाल उतरना है, जोकि समुचित नहीं है। किसी के भी द्वारा दिये हुए उदाहरण विधेय नहीं हो सकते हैं, फिर तू तू मैं मैं करना व्यर्थ है। हम तो कई बार स्पष्ट लिख चुके हैं कि यज्ञोपवीत की अनधिकारिणी महिला समाज को अनेक ग्रन्थों में दानाभिषेकार्थ अनर्हा विधि रूप में लिखा है। तो भी आप को विधानाभाव में निषेध क्यों अभिवांछनीय हो रहा है।

तीर्थंकर भगवान् का नरक या स्वर्ग से अवतरण होता है, इसलिए अनुगामी देशावधि ज्ञान के साथ ही उनका जन्म होता है, अवधिज्ञान का यह स्वभाव है कि जब उसे जोड़ा जाय तभी उसमें उसका विषयरूप स्थूल रूपी पदार्थ झलकता है अन्यथा केवल ज्ञानवत् उस ज्ञान में अपना विषय सतत ही नहीं झलकता है। उनके क्षायोपशमिक मति, श्रुत ज्ञान भी होते हैं वे भी जोड़ रूप एवं क्रमवर्त्ती ही होते हैं। मति, श्रुत ज्ञान का उपयोग होता रहता है परन्तु वे अविधज्ञान का भी सतत उपयोग करते ही रहें ऐसा कोई खास नियम नहीं है। तीर्थंकर स्वयंबुद्धता के नाते किसी अन्य के पास विद्याभ्यास भी नहीं करते, न किसो से शिक्षा दिक्षा लेते हैं और न सिद्धातिरिक्त किसी को भी नमस्कार ही

करते हैं। उनके आठवर्षीय अवस्था में ही गृहस्थोचित अणु-व्रत भी स्वय ही हो जाते हैं। यह सभी कुछ होते हुए भी जब तक केवली न हो जाय और यथोचित बाह्यसाधन रूप नोकर्म का उदय मिलने पर तीर्थंकर प्रकृति का साक्षात् उदय न हो ले, तब तक धार्मिक देशना नहीं करते हैं। सयमी अवस्था में सामायिक चारित्र को पालते हुए जिनकल्पी मौनी चर्या ही करते हैं। गृहस्थ अवस्था में भी समयोचित, अस्यादि षट् कर्मों का उपदेश देते हैं, परन्तु देव पूजादि षट्कर्त्तव्यों का भी उपदेश वे इसलिए नहीं देते हैं कि छद्मस्थता के नाते धार्मिकोपदेशना में कदाचित् कुछ न्यूनाधिक्य हो जाय तो परिपाटी बिगड़ जाय। अतः उनकी धार्मिक देशना तेरहवें गुणस्थान में पहुंचने पर भी तब तक नहीं हो सकती जब तक कि तीर्थंकर प्रकृति का सक्रिय उदय न हो। सामान्य केवलियों के धार्मिक या सैद्धान्तिक भाषण और गणधरों के द्वारा ग्रन्थगुंथन हुवा ही करता है क्योंकि उनके उपदेश की परिपाटी अक्षुण्ण नहीं होती। इन सभी बातों के ज्ञाता ब्रह्मचारी सूरजमलजी ने अपनी चलती कलम से लिख दिया, कि महावीर भगवान् के सामने गुणभद्राचार्य कौन होते हैं। केवली हो जाने पर तो भगवान् के सामने वस्तुतः गुणभद्राचार्य तत्सम नहीं हो सकते, परन्तु छद्मस्थ अवस्था में तो धर्मोपदेशन विधि में साधिकारित्व अनधि-कारित्व के नाते महावीर भगवान् एवं गुणभद्राचार्य जी में तत्साम्य होने में कोई अनौचित्य नहीं है। तो भी ब्रह्मचारीजी ने जो मन में आया लिख ही दिया। यहाँ पर एक बात यह भी विचारणीय है, कि एक समय जयन्त एवं संजयत मुनियों को सैद्धान्तिक विषय में शका उत्पन्न हो गई थी, उसके निवारणार्थ वे ऊपर आकाश मार्ग में होकर चले आ रहे थे

स्वगृहांगण में खेलते हुए बालक महावीर के ऊपर दृष्टि पात्र होते ही उनकी शंका का समाधान हो गया। तो भी मुनियुगल ने महावीर भगवान् से मुलाकात् इसलिए नहीं की, कि मिलने पर भगवान् तो इनको नमस्कार इसलिए नहीं कर सकते कि वे तो स्वयंबुद्ध होने से अरहंतों को भी नमस्कार नहीं करते इस से सम्भव था कि व्यावहारिक परिपाटी में कुछ ठेस लग जाती। और मुनियुगल के द्वारा असंयमी बालक भगवान् को नमस्कार करना भी समुचित नहीं ही था। अब पाठक गण विचार करें कि भगवान् महावीर और गुणभद्राचार्य में जब भगवान् महावीर बालक थे, तब गुणभद्राचार्य में गुणाधिक्य नहीं था? और जब भगवान् महावीर दीक्षित होकर आहारार्थ चर्या को निकले थे, तब गुणभद्राचार्य में तत्साम्य भी नहीं था? जो झट से लिख दिया कि उनके सामने वे कौन? अब भगवान् महावीरजी ने चन्दना के हाथ से आहार क्यों और किस कारण लिया था, उसपर भी विचार यह करना है, कि एक समय छद्मस्थ भगवान् महावीर स्वामी ने यह व्रतपरिसंख्यान किया कि आज किसी बंधनबद्ध को देखकर ही आहार लेना है। उन्होंने इस कार्य में अवधिज्ञान का उपयोग नहीं किया। आहारार्थ भ्रमण करते हुए भगवान् महावीर स्वामी की दृष्टि ज्यों ही सुभद्रा सेठानी के द्वारा बांधी गई सती चंदना पर पड़ी, त्यों ही उसके बन्धन टूट गये, मिट्टी का शरावा सुवर्ण का हो गया, और कोदों के चावल शालिरूप हो गये। अपनी दशा में यकायक ऐसा परिवर्त्तन देखकर उसने तत्काल महावीर स्वामी को आहार दिया और उसके घर में पंचाश्चर्य भी हुए। भगवान् गुणभद्राचार्य ने इस घटना को ज्यों का त्यों संक्षिप्त रूप में लिख दिया। चंदना ने आहार दिया, और साधारण मुनियों

के समान मौनी भगवान् महावीर स्वामी ने आहार ग्रहण कर लिया। परन्तु उन्होंने इस घटना के औचित्यानौचित्य पर कुछ भी प्रकाश नहीं डाला। इस प्रकार यह रहा भो उदाहरण ही, विधान तो नहीं हो गया। महाराज यह संक्षिप्त कथन है उस समय रात्रि थी ही नहीं, जो कि वृषभदत्त सुभद्रादि कुटेटे की नींद में सो रहे थे, और सो भी रहे हों तो ऐसे चमत्कार से किस अभागे की आंखें न खुली होगी, सैकड़ों दर्शक उपस्थित हो गये होंगे। और उनमें से कोई न कोई चन्दना के आहारदान कराने में अवश्य शामिल हुवा ही होगा। अकेली स्त्री का आहार देना और अकेली के हाथ से आहार अकेले मुनि के द्वारा लेने का अनौचित्य तो ब्रह्मचारी जी महाराज भी स्वीकार करते ही हैं। फिर गुणभद्राचार्य के विषय में अभद्रलेखनी क्यों चल ई, कुछ समझ में नहीं आता। इसी को तो पक्षव्यामोह कहते हैं।

सुलोचना के द्वारा जिनाभिषेक का समर्थन करने की भावना से ब्रह्मचारीजी ने श्रीआदिपुराण ४३ वें पर्व के निम्न प्रकार से पांच श्लोक उद्धृत किये हैं:—

कारयंती जिनेन्द्रार्चाश्चित्रा मणिमयीर्बहू ॥
तासां हिरण्मयान्येव विश्वोपकरणान्यपि ॥१७३॥

तत्प्रतिष्ठाभिषेकान्ते महापूजाःप्रकुर्वती ॥
मुहुःस्तुतिभिरर्थ्याभिःस्तुवती भक्तितोऽर्हतः ॥१७४॥

ददती पात्र दानानि मानयंती महामुनीन् ॥
शृण्वती धर्ममाकर्ण्य भावयंती मुहुर्मुहुः ॥१७५॥

आप्तागमपदार्थांश्च प्राप्तसम्यक्त्वशुद्धिका ॥
अथ फाल्गुननंदीश्वरेऽसौ भक्त्या जिनेशिनां ॥१७६॥
विधायाष्टाह्निकीं पूजामभ्यर्च्यार्चा यथाविधि ॥
कृतोपवासा तन्वंगी शेषां दातुमुपागता ॥१७७॥

और आपके द्वारा मध्यस्थ चुने हुए पूज्य पं० लालारामजी शास्त्री ने इन पांचों श्लोकों का निम्न प्रकार अर्थ किया है। "उस सुलोचना ने श्रीजिनेंद्रदेवकी अनेक तरह की और बहुत सी मणियों की प्रतिमाएं बनवाई थीं। तथा उन प्रतिमाओं के सब उपकरण भी सुवर्ण के ही बनवाये थे ॥१७३॥ उन प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा कराई थी, प्रतिष्ठा के अभिषेक के अंतमें महापूजा करती थी तथा उत्तम उत्तम अर्थों से भरे हुए स्तोत्रों के द्वारा भक्ति पूर्वक बार बार अरहंत देव की स्तुति करती थी ॥ १७४ ॥ पात्रों को दान देती थी, महामुनियों की पूजा करती थी, धर्म को सुनती थी और धर्म को सुनकर तथा सम्यग्दर्शन की शुद्धता को पाकर आप्त आगम और पदार्थों को बार बार चिंतवन करती थी॥ अथानंतर फाल्गुन महीने की अष्टाह्निका में उसने भक्ति पूर्वक श्रीजिनेन्द्रदेव की अष्टाह्निका की पूजा की, विधि पूर्वक प्रतिमाओं की पूजा की, उपवास किया और फिर वह कृशांगी शेषा (पूजा के बचे हुए अक्षत) देने के लिए पिता के समीप गई ॥ १७४-१७५-१७६--१७७ ॥ यह तो पण्डित लालारामजी शास्त्री का किया हुवा अर्थ है, इस अर्थ में सुलोचना के द्वारा किये हुए अभिषेक की गंध तक भी नहीं है किन्तु स्पष्ट विवेचन है, कि जब प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा और अभिषेक हो चुका तब सुलोचना ने महापूजा की थी, इसी प्रकार इस अर्थ में यह भी नहीं लिखा गया है कि सुलोचना ने मुनियों

को आहार दिया था। यहाँ तो केवल इतना ही सामान्य लिखा हुआ है कि पात्रों को दान देती थी, और महामुनियों की पूजा करती थी। जिसका खुलाशा इस प्रकार है कि उत्तम मध्यम जघन्य तीनों प्रकारों के पात्रों को यथायोग्य आहारादि चारों प्ररकार के दान देती थी। इसका अर्थ कोई यह भी न समझ लें कि इसमें मुनियों को आहार देना भी तो आही गया, यदि ग्रन्थकर्त्ता और अर्थकर्त्ता को यह बात इष्ट होती तो वे दोनों पात्रदान के अतिरिक्त महामुनियों की पूजा करने का पृथक् उल्लेख क्यों करते? क्योंकि पात्रदान में मुनि पूजा आ ही जाती है, तो भी उन्होंने महामुनियों की पूजा का पृथक् उल्लेख करके यह बात सुस्पष्ट करदी है कि वह मुनियों को आहार दान न देकर यथायोग्य शेषों को शेष दान देती थी। अब जो ब्रह्मचारी सूरजमलजी ने जो अर्थ किया है वह इस प्रकार है :— "उस सुलोचना ने चित्र बिचित्र रत्नों की बहुत सी प्रतिमाएं बनवाई, उनके सुवर्णमयी उपकरण बनवाये और उन प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा कराके उनका अभिषेक किया और प्रतिमाओं पर अभिषेक करने के बाद उनकी महान् पूजा की। अर्थयुक्त स्तुतियों से अरहंत भगवान् की स्तुति की, पात्रदान दिया (ददती-देती हुई यहाँ ददती पाठ है दापयन्ती नहीं, दापयन्ती का अर्थ दिलाती हुई होता है और ददती का अर्थ होता है देती हुई) महामुनियों को पूजती हुई, धर्म को सुनती हुई और सुनकर आप्तआगम और पदार्थों का बार बार चिंतवन करती हुई। फाल्गुन मास में नंदीश्वरद्वीप सम्बन्धी आष्टाह्निक पूजा विधि पूर्वक की, उपवास किया और पूजा के शेषा ले जाकर अपने पिता अकंपन को दिये" इस पर हमारा विवेचन यह है कि ब्रह्मचारीजी ने १७३ वें श्लोक का अर्थ करने के बाद १७४ वें

श्लोक के प्रथम चरण पर दृष्टि तो अवश्य ही डाली होगी, वह पाठ "तत्प्रतिष्ठाभिषेकान्ते" है जिसका पण्डित लालारामजी साहिब ने "इन प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा कराई, प्रतिष्ठा के अभिषेक के अंत में" यह अर्थ किया है और ब्रह्मचारीजी इन शब्दों का "उन प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा कराके उनका अभिषेक किया और प्रतिमाओं पर अभिषेक करने के बाद" इन दोनो अर्थों में कितना फर्क है, न जाने आपने इस स्पष्ट "प्रतिष्ठाभिषेकान्ते" पद के अर्थ में "प्रतिष्ठा कराकर उनका अभिषेक किया और प्रतिमाओं पर अभिषेक करने के बाद" इतना अर्थ कहाँ से और कैसे निकाल लिया। महाराज आप निष्पक्ष होकर पक्षव्यामोह को छोड़कर स्वयं ही एकान्त स्थान में स्वस्थ चित्त होकर विचार करते, तो आप की दृष्टि में भी पं० लालारामजी शास्त्री के द्वारा किया हुवा अर्थ ही समुचित प्रतीत होता, या अपने किये हुए अनर्थ को प्रकाशित करने के पहिले अपने श्रद्धेय प० इन्द्रलाल जी शास्त्री जयपुर वालों को ही दिखा लेते, तो बहुत सम्भव था कि वे स्वयं स्त्रीप्रक्षाल के पक्षपाती होते हुए भी आपके किये हुए इस अनर्थ को प्रकाशित करने की अनुमति हर्गिज नहीं देते, क्योंकि हमारा उनसे काफी परिचय है। इसलिये हम जानते हैं कि उनसे इस वृद्धावस्था में आपके जैसा अनर्थ होने की स्वप्न में भी संभावना नहीं है। अस्तु, अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा है, यदि वस्तुतः आप को इसका निर्णय कराना हो तो श्रीबहुश्रुत मुनि समंतभद्र, आचार्य कुन्थुसागरजी, श्रीपायसागरजी, श्रीवीरसागरजी एवं आचार्य श्रीशांतिसागरजी महाराज आदि से करा सकते हैं, हमें पूर्ण विश्वास है कि इन त्याग मूर्त्तियों के सामने आपने पं० लालारामजी शास्त्री के द्वारा, एवं अपने द्वारा किये हुए उभय अर्थों को

रक्खा, तो सहज ही में आपको संतोष हो जायगा, और आप में जो अनर्थ करने की आदत पड़ गई है उससे आप त्राण पा जायगे। इसी प्रकार आप और भी कई अनर्थ कर गये हैं, जैसे कि उत्तर पुराण के ४८ वे श्लोक में पड़े हुए विधाय शब्द का अर्थ भी आप "बनवाकर" और ५० वें श्लोक में पड़े हुए प्रतिष्ठाप्य शब्द का अर्थ भी आप "प्रतिष्ठा कराकर कर गये हैं"। आपने आरब्धं के अर्थ पर तो काफी छींटा कसी की है और विधाय के स्थान पर विधापयित्वा एव प्रतिष्ठाप्य के स्थान पर प्रतिष्ठापयित्वा पाठमान कर अर्थ कर डाला है। पाठकगण समझ गये होंगे, कि ब्रह्मचारीजी द्वारा उपर्युक्त अनर्थ करने से उत्पन्न हुवे पाप से हमारे द्वारा चक्की चलने से उत्पन्न हुवा पाप कम है या अधिक। अविद्यमान दोषारोपण करना निंदा का स्वरूप है, परन्तु जब कुछ मुनियों के साथ सिद्ध-साधक रह कर अपना २ योगक्षेम मनाते ही हैं, ऐसी हालत में स्पष्ट सत्य को निंदा कहना सिद्धसाधकत्व को प्रोत्साहन देना ही है। सिद्ध साधकों की मीमांसा करना मुनिनिंदा नहीं है, तिसपर भी जो मुनि इसको अपनी निंदा समझें, उन्हें अपने साथ में ;स्वकीय योगक्षेमार्थी सिद्धसाधकों को रखना भी तो नहीं चाहिये। हमारा तो पूरा अनुभव है, कि मुनियों में जो कुछ यत्र तत्र शिथिलता या मनमानी स्वच्छंदता का समावेश हो गया है, उसके प्रधान साधन ये सिद्धसाधक ही हैं। लिखते हुए दुःख होता है, कि आचार्य सूर्यसागरजी महाराज के अन्तिम जीवन में जो कुछ भी शैथिल्य आया था, उसके प्रधान कारण साक्षर एवं निरक्षर सिद्धसाधक ही थे। ब्रह्मचारीजी अपनी ओर तो आँख उठाकर भी नहीं देखते, और दूसरों के स्पष्ट सत्य को भी शरारत और नीचता ही कहते हैं। निर्दोष साधुओं पर अछूते दोष लगाकर

ऐसा कौन नीचातिनीच दुर्भागी होगा जो इस घोर पाप के द्वारा अपने भविष्य को गहरे अंधगर्त्त में स्वयं पटक ले। परन्तु दोषियों की खरी मीमांसा का भाजन दोषियों को ही न समझ कर उसे निर्दोषियों के भी ऊपर ठेल कर खरे मीमांसकों की अनुचित निंदा करके समाज को भड़काने की दुश्चेष्टा करना भी तो अक्षम्य अपराध ही है। उपगूहन करना सभी को इष्ट है, परन्तु विषविस्तार के भय से हाथ आदि का काट देना भी तो अनुचित नहीं है, और न ऐसा करने से सम्यक्त्व भी दूषित हो सकता है।

कुछ भोले प्राणी जैसे ऐक्यता का प्रयोग करते देखे जाते हैं, उसी प्रकार परम वैयाकरणी ब्रह्मचारीजी महाराज ने भी श्वेताम्बरत्व, श्वेताम्बरता, श्वेताम्बरीय, या हिन्दी में श्वेताम्बर-पना, आदि शुद्ध शब्दों को भूलकर नितान्त अशुद्ध शब्द श्वेताम्बरीयता का प्रयोग करके पचामृताभिषेक के समर्थन करने की अंधी अनुचित धुनि में आकण्ठ निमग्न होकर अपने समूचे व्याकरणज्ञातृत्व पर हड़ताल पोत ली है। ब्रह्मचारीजी के कथनानुसार यदि भगवान् की केवलज्ञान अवस्था की मूर्त्ति मानने पर न तो अभिषेक हो सकता, और न स्पर्श ही किया जा सकता, न प्रतिमा को उठाया जा सकता, न रक्खा जा सकता है तो फिर यह भी तो स्पष्ट करना चाहिये था, कि आखिर ये प्रतिमाएं भगवान् की किस अवस्था की हैं? सो तो किया नहीं, और निषेध सभी क्रियाओं का कर गये। महाराज ये मूर्त्तियाँ केवलज्ञान अवस्था की हैं, और उनपर सभी क्रियाएं हो सकती हैं। क्योंकि स्थापना और भाव निक्षेपों में बड़ा भारी अन्तर है। तो भी वह अन्तर असीम नहीं है। स्थापना और कल्पना में बड़ा भारी भेद है, इस

बात को जानते हुए भी ब्रह्मचारीजी ने पुजारी में इन्द्रत्वकी, मनुष्य में राजापने की कल्पना के समान ही जो प्रतिमा में जिनत्व की स्थापना लिखी है और उसके लिये अभिषेक होने की बात लिखी है वह ठीक नहीं है। क्योंकि पुजारी में में पूजा कर चुकने के बाद और मनुष्य में राजापना हट जाने के बाद न पुजारित्व रहता है, और न राजापना ही रहता है। परन्तु प्रतिमा में स्थापित जिनत्व सदैव ही कायम रहता है। दूसरे मनुष्य में जब राजापने का अभाव रहता है । तब ही अभिषेक करके उस में राजापने की स्थापना की जाती है, और पुजारी में इन्द्रत्व का अभाव रहता है तब ही अभिषेक करके उस में इन्द्रत्व की स्थापना की जाती है। और इन्द्रत्व एवं राजापना की स्थापना हो जाने पर फिर उसका अभिषेक नहीं होता है, परन्तु यह बात प्रतिमा में सुघटित नहीं होती। क्योंकि प्रतिष्ठा विधि के अनुसार अभिषेकादि करके प्रतिमा मे जिनत्व स्थापित हो जाने पर भी प्रतिमा का अभिषेक होता ही रहता है। सारांश यह है कि पुजारी को इन्द्र बनने के लिए एवं मनुष्य को राजा बनने के लिए अभिषेक करना जिस प्रकार आवश्यक है उस प्रकार प्रतिमा को जिन बनाने के लिए अभिषेक आवश्यक नहीं है, प्रतिमा तो पहिले ही जिन हो चुकी है। दूध दही आदि पदार्थ यद्यपि खाने पीने के लिए शुद्ध माने गये हैं, तो भी वस्तुतः हैं तो त्रस जीवों के शरीर से जायमान ही। जल त्रस जीवों के शरीर से जायमान नहीं है, इस अपेक्षा से दूध दही की अपेक्षा जल अधिक शुद्ध है। दूध दही आदि के स्वाद में मर्यादा बीत जाने पर विकृति हो जाती है परन्तु जल में उतनी बात नहीं है। जल की सफेदी के समान दूध दही में चिरस्थायी सफेदी नहीं है, इसलिए ही जल के साथ तो

मुनियों के मन की उज्वलता, या मुनियों के मन की उज्वलता के समान जल की उज्वलता मानी गयी है, परन्तु दूध दही आदि पदार्थों में चिरस्थायी उज्वलता नहीं है, अतः भगवान् के तप कल्याणक के समय अभिषेक में गंगादि तीर्थों के जल को ही उपयोगी बतलाया गया है, दूध दही आदि को नहीं। इस से भली भांति सिद्ध होता है, कि परम पवित्र श्रीजिनेन्द्र भगवान् के अभिषेक के लिए आर्षग्रन्थों में केवल जल का ही विधान किया गया है। भगवान् को कीर्ति आदि की अवश्यकता नहीं है अतः उनका अभिषेक शुद्ध जल से ही होना चाहिये, जिन की दृष्टि में भगवान् को भी कीर्ति-संपादन की आवश्यकता प्रतीत हुई, उन्हीं को कीर्त्ति संपादन के सूचक धवलद्रव्य दही दूध आदि पदार्थों की अभिषेक में आवश्यकता भी हुई होगी। आर्षमार्ग की दृष्टि में तो भगवान् को भी कीर्तिसंपादन की अवश्यकता प्रतीत नहीं हुई इसलिए उसने कीर्त्तिसंपादन के सूचक धवलद्रव्य दूध दही आदि पदार्थों को श्रीजिनाभिषेक के योग्य नहीं लिखा। दूध दही घृत सर्वौषधियों में लौकिक जनों ने अमृतत्व मानलिया होगा, परन्तु जल तो साक्षात् अमृत ही है, जो कि उसके नामान्तर रूप में वर्णित है। "पयः कीलालममृतं तोयं जीवनमश्विषं" प्रतीकत्व से तो साक्षात् की प्रतिष्ठा अधिक ही होती है। जो वीमार हो उसे पथ्यरूप में क्रमशः सर्वौषधि दूध, दही, घी की आवश्यकता हो सकती है, परन्तु जो सर्वथा स्वस्थ ही हो उसे इन पथ्यों की क्या जरूरत है? अथवा जो भक्त कभी भी अस्वस्थ नहीं रहना चाहता हो वह स्वयं ही इन पथ्यों के जाल में अपने को क्यों उलझावेगा। जब कि जल को समस्त का रोगों नाशक ब्रह्मचारीजी स्वीकार करते हैं तब समस्त रोगों में से कौनसा रोग बाकी रह गया, कि जिसको ब्रह्मचारी-

को दूध से ही नहीं, दही से भी दूर करना चाहते हैं।

महाराज सन् संवतों के चक्कर में उलझ कर प्राचीनता एवं अर्वाचीनता से शास्त्रों का प्रामाण्य या अप्रामाण्य सिद्ध नहीं हो सकता है, उसकी सिद्धि तो स्वर्गीय पण्डित टोडरमल-जी के द्वारा मोक्षमार्गप्रकाश मे प्रदर्शित की हुई वीतरागता की सच्ची झलक से ही हो सकती। "गोदोहैः स्नाविता धात्री" का अनर्थ करके आदिपुराण में पंचामृताभिषेक का दिवास्वप्न दिखना कितना तथ्य रखता है इसका विवेचन पहिले किया जा चुका है। ब्रह्मचारीजी महाराज पहिले तो पं० लालारामजी को मध्यस्थ चुन ही चुके हैं, और अब उन्हीं पण्डित लालारामजी को भूल कर देने वाला बताते हुए लिखते हैं, कि आदिपुराण के टीकाकार भी प्रकरण और प्रसंग के तत्त्व को स्पष्ट नहीं कर सके। धन्य है इस पूर्वापर विरुद्ध प्रखर बुद्धि को, जो बड़े २ प्रौढ़ विद्वानों पर भी भूल फेंक कर अपना पाण्डित्य प्रगट करती है।

हरिवंशपुराण पद्मपुराण का सामस्त्येन विरोध किसने किया है और कौन करना चहाता है, परन्तु पद्मपुराण में सीता को जनकपुत्री बताकर जो कथा भाग में वैपरीत्य करके ऐतिहासिक बात अन्यथा की गई है। सती मंदोदरी के द्वारा अपने पति की इच्छापूर्ति करने के लिए महासती सीता को फुसला कर आचार में विपरीतता की गई है। एवं हरिवंश-पुराण में अतुलबली श्रीनेमिनाथ भगवान् का सौरीपुर से भगजाना लिखा है। वे बातें क्या जैन सिद्धान्त के अनुकूल हैं जो जो कथाएं या ऐतिहासिक ऐसी घटनाएं हैं जो कि जैन सिद्धान्त के अनुकूल हैं, उनका निषेध कौन करता है। हां इतनी बात जरूर है कि ये ग्रन्थ तथा ऐसे ही अन्यान्य अनेक ग्रन्थ

स्वतः प्रमाण न होकर परतःप्रमाण है। इस तत्त्व को न समझकर जो ब्रह्मचारीजी को अपने समस्त गौरव के नाश हो जाने का, प्रथमानुयोग का विलोप होकर अंगहीन हो जाने का, या अपनी विभूति के बहिष्कार हो जाने का निर्मूल भय उत्पन्न हो गया है, सो अविवेक से परे नहीं है।

दूध दही आदि पदार्थों की कौन चलाई, जलकी एक बूंद में भी हजारों त्रसजीवों का चलती फिरती दशा में अस्तित्व जैन सिद्धान्त स्वीकार करता है, ऐसी अवस्था मे वस्तुतः वह भी निरवद्यरूप में उपादेय नहीं है तो भी धर्मका साधक शरीर उसके अभाव में टिक नहीं सकता है, अत. परम्परा से धर्माराधनका साधन होने से उसका उपयोग करना ही पड़ता है, इसी लिये शक्यानुष्ठान की विधिपूर्वक त्रसजीवों का रक्षा करते हुए पानी उपादेय है इसी प्रकार मर्यादित दूध दही भी किसी निर्दिष्ट सीमा तक धर्मसाधन में सहायक हैं इसी उद्देश से उनका उपयोग त्यागियों को भी करना पड़ता है, और उन्हें अपवित्र भी नहीं माना जाता है। परन्तु ब्रह्मचारीजी जो उन्हें परिग्रह नहीं मानते हैं वह उनकी गहरी भूल है। यदि दूध दही परिग्रह नहीं है तो शास्त्रकारों ने गौ आदि को धन क्यों कहा है? इस धनकी बदौलत ही तो दूध दही भी पैदा होते हैं, परन्तु इनमें त्यागियों के मूर्च्छा नहीं है। वे तो उन्हें तथा भोजन को भी धर्मसाधक ही समझकर ग्रहण करते हैं। और जब यह समझ लेते हैं कि अब इन के उपयोग से भी धर्माराधन नहीं हो रहा है, तब उन्हें भी छोड़ ही देते हैं। और पूर्णतया निराहारी होकर अंतिम अवस्था में केवल धर्मध्यान से शेष जीवन व्यतीत करते हैं। हमें ब्रह्मचारीजी से ऐसी आशा तो नहीं थी कि वे पंचामृताभिषेक समर्थन की धुन में दूध दही घी आदि को अपरिग्रह ही समझ लेंगे।

यदि ब्रह्मचारीजी की दृष्टि में जल के साथ २ थोड़ा दूध भी भगवान् का कुछ नहीं बिगाड़ सकता है तो दूध के साथ में थोड़ा सा चंदन, और चंदन के साथ में मुकुट आदि आभूषण, और आभूषणों के साथ में थोड़े से वस्त्रों का धारण भी भगवान् का क्या बिगाड़ सकता है। क्या इन को दूर कर देने की शक्ति दूध के समान जल में नहीं है ? फिर तो इन पदार्थों से भी विरक्त ही रहना चाहिये। तब कोई सनातनी या संबंध विच्छेद करने की संभावना एवं कल्पना भी नहीं रहेगी। वाहजी विवेकशील ब्रह्मचारीजी महाराज आप ने वीतरागता को अक्षुण्ण रखने का बडा बढ़िया नुकशा उपस्थित कर दिया है। इसके उपयोग हो निकलने पर फिर तो समस्त रोगापहारी जलोपयोग की भी आवश्यकता नहीं रहेगी। पाठक गण शोच सकते हैं कि फिर वीतरागता में क्या शेष रह सकता है। सिंदूरप्रकरण के आधार पर रचित कविताओं को उद्धृत करके पचामृताभिषेक आदि मनोनीत बातों को सिद्ध करने का प्रयास करना भी व्यर्थ ही है, क्योंकि यदि किसी शुद्धाम्नायी को सिंदूरप्रकरण का पद्यानुवाद करना अच्छा लगाया था तो उसे विवशतया समस्त ग्रन्थ का अनुवाद करना ही पड़ा होगा, जिस प्रकार कि पं० दौलतरामजी ने सभी ग्रन्थ का अनुवाद करते हुए स्वाभिमत विरुद्ध श्लोकों का अनुवाद भी किया ही है। परन्तु इससे उनके निजी अभिमत को दूषित बताना वैसी ही भारी भूल है। जैसे अभी वर्त्तमान में न्यायाचार्य पंडित महेन्द्रकुमारजी आदि दिगम्बर जैन विद्वान् श्वेताम्बरीय ग्रन्थों का अनुवाद कर रहे हैं, और श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में दिगम्बर जैन सिद्धान्त के विरुद्ध बहुत सी बातें उल्लिखित हैं। दिगम्बर जैन विद्वान् उन ग्रन्थों में दिगम्बराभिमत सिद्धान्तों का समावेश नहीं कर सकते हैं तो भी तदनुकूल प्रतीति न रखते हुए उन्हें अगत्या तदनुकूल बातों

का अनुवाद करना हो पड़ता है ऐसी हालत में उन विद्वानों को श्वेताम्बरीय सिद्धान्तों के मानने वाला समझना गहरी भूल है। इसी प्रकार आगमपंथियों को केवल सरलतया समझाने की मंशा से आगमपंथीय ग्रन्थों के कुछ आंशिक श्लोकों को उद्धृत कर देने मात्र से समझाने वाले को अखंड आगमपंथी ग्रन्थों को प्रमाण मानने वाला समझ कर मन-मानी तौर पर ऊटपटांग लिखने की बार बार चेष्टा करना मात्र कुचेष्टा ही है। इस लिए हम ऐसी बातों का विशेषतया पिष्टपेषण करना समय एवं शक्ति का दुरुपयोग करना ही समझते हैं।

पूजा करते समय पुजारी को अपना मुख पूर्व या उत्तर में रखने का हमने निषेध नहीं लिखा, तो भी ब्रह्मचारीजी ने न जाने कौन से तीसरे नेत्र से देखकर हमारे ऊपर झूठा दोष लगाया है। हाँ हमने यह अवश्य लिखा है कि नियमतः किसी एक ही दिशा में पुजारी को अपना मुख रखना उचित नहीं है, जहाँ जैसा मौका हो वहाँ उसी दिशा में मुख करके भी पूजा की जा सकती है। और जो उमास्वामिश्रावकाचार के पाँच श्लोकों में पूर्वापर विरुद्ध वर्णन करते हुए दक्षिणाभिमुख एवं पश्चिमाभि मुख करके पूजा करने का निषेध करके घातक नादिरशाही आदेश किया है वह जैन सिद्धान्त से सर्वथा विरुद्ध है। और भगवान् के सामने खड़े होकर पूजा करना निषिद्ध नहीं है।

अथोत्थायादि श्लोकों में छः द्रव्यों के उल्लेख का तो ब्रह्मचारीजी को भी बोध है और हमने अष्ट द्रव्यें लिखी हैं। तिसपर भी ब्रह्मचारीजी हमें चार लिखते हैं। यदि हम आठ द्रव्यों के स्थान में छः द्रव्यें लिखते तब तो आप हमें चोर

लिख देते, तो कोई चिंता की बात नहीं थी, परन्तु हमने तो दो अधिक लिखे हैं ऐसी हालत में आप को हमें दाता समझना चाहिये था, परन्तु आपको प्रथम तो सूझता ही नहीं है और जो कुछ सूझता भी है वो विपरीत ही सूझता है। आप ने सुगंधि शब्द से पुष्पमाला और फूल समझ लिये हैं। और समाश्यां को गायब कर दिया है। गंध का स्पष्ट अर्थ चन्दन है उसे आपने किस शब्द से समझा है। गंध का अर्थ खींचतान कर पुष्पमाला एवं फूल कर दिया है और चंदन को छोड़ ही दिया है। अर्थात् चन्दन रहते हुए भी आप उससे उड़ा गये अतः चोर तो आप ही हुए। हमने पूरे शब्द का अर्थ सामने लिखा है और आप उसका अर्थ आगे वाली चंवरी लिखते हैं। इन अर्थों में क्या फर्क है सो पाठक ही सोचें। अथोत्थाय आदि श्लोक और चउरंगुलंतरपादो गाथा का हमने सन्मुख खड़े होकर पूजा करने की सिद्धि में किया है, उसे न समझ कर आप ने उस को सामने के अथ में समझ लिया है और इसी वैपरीत्य की भित्ति पर आप ने मनोरंजक चित्र विचित्र लिखना प्रारंभ कर दिया है। हमने इस गाथा को दिशा के सम्बन्ध में भी नहीं लिखा है। पूजा का अर्थ चतुर्विंशतिजिनस्तुति भी होता ही है। पूर्वोत्तर मुख करके ही भक्ति करने वाला भक्त भगवान् बन सकता है अन्य नहीं, ऐसा कहाँ लिखा है ? आदिपुराण में तो सभी दिशाओं में मुख हो जाने पर भी मुक्तिलाभ का वर्णन किया गया है समवसरण में बारह सभाओं मे बैठने वाले भव्यजीव भगवान् को अपने सामने कर के ही बैठते हैं ऐसी हालत में दिशाओं के प्रतिबन्ध की सिद्धि कैसे हो सकती है। और क्या भगवान् के सामने बैठे हुए भव्यजीव स्तब्ध ही बैठे रहते हैं ? स्तुति नहीं करते, हाथ नहीं जोड़ते ? नमस्कार नहीं करते, यदि इन क्रियाओं को करते हैं तो क्या ये क्रियाएं पूजा में

शामिल नहीं हैं ? हमतो इन सभी क्रियाओं को पूजन में शामिल समझते हैं। यदि इस प्रकार की पूजा से आप बैठकर पूजा करना सिद्ध करना चाहते हैं, तो हमें कोई आपत्ति नहीं है, और न हमने इस प्रकार से बैठकर पूजा करने का निषेध भी किया है। हम ने तो जो पुजारी नहा धोकर अभिषेक पूर्वक अष्ट द्रव्य चढ़ाकर पूजा करते हैं उनके लिए खड़े होकर पूजा करने का विधान मात्र किया है।

इसी प्रकार ब्रह्मचारी सूरजमलजी ने अपनी पुस्तक के पृष्ठ १०२ से लेकर अथोत्थायादि श्लोकों को उद्धृत कर के पृष्ठ ११२ में दिसासु कुव्वति कल्लाणं पद तक केवल पिष्टपेषण, मनमानी तौर पर ठोंक पीट कर वैद्य बनाने की रीति से शब्दार्थों एवं भावार्थों का विपर्यय करके अपने पाण्डित्य की सफाई मात्र प्रगट की है, उस पर भी हम विशेष विवरण न लिखकर केवल इतना ही लिखना पर्याप्त समझते हैं, कि हमने जितने भी श्लोक उद्धृत किये हैं उन सभी का शब्दार्थ एवं भावार्थ उसी प्रकार का लिखा है जैसा कि उन उद्धरणों की टीका करते समय पं० लालारामजी शास्त्री, पं० दौलतरामजी जयपुर, पं० सदासुखजी जयपुर, पं० टोडरमलजी जयपुर आदि प्राचीन विद्वानों ने अनुवाद किया है। जिनार्चाभिमुखं का अर्थ जो पं० लालारामजी ने किया है उस से हमारा किया हुवा अर्थ मेल नहीं खाता है, बाकी सर्वत्र एक सा ही है। परन्तु ब्रह्मचारीजी के द्वारा किया हुवा अर्थ किसी के भी अर्थ से मिलान नहीं खाता है, ऐसी हालत में पाठकगण ही स्वयं विचार लें कि ब्रह्मचारीजी के द्वारा लिखा हुवा विवरण कितना तथ्यांश रखता है। और अपने मनमाने दुरभिप्रायों को कैसी रीति से पुष्ट करना चाहता है। हमने फल फूल चढ़ाने एवं चंदन से पूजा करने का निषेध नहीं किया है

है, केवल इतना ही लिखा है कि चरणों के ऊपर गंध लेप करके वीतराग शांत मुद्रा को विकृत नहीं करना चाहिये। फूल-फलादि में असंख्य जीवायास देखकर यदि हम उनके चढ़ाने की प्रेरणा नहीं करते हैं तो कोई अपराध नहीं है। हमने कई श्लोकों को जिस उद्देश से लिखा है, उसे न समझ कर उन श्लोकों में अन्यान्य मनोनीत उद्देशों की झूठी कल्पना कर ली गयी है। इसी प्रकार आपने अभिमुख शब्द का अर्थ साक्षी करके विपर्यय कर डाला है। क्या सामने खड़ा हुवा साक्षी नहीं होता है? आजकल तो सामने खड़े करके ही साक्षी ली जाती है। अग्नि की साक्षी के समान मौनी की भी साक्षी मानी ही जाती है। सामने बैठकर साक्षी देने वाले भी मुकर जाया करते हैं। सामने खड़े होकर भक्ति करने को पूजा न समझना बड़ी भारी भयंकर भूल है। सामान्य पूजा के विशेष प्रकारों को पूजा ही माना जाता है। दूसरों के दृष्टिभेद को सर्वथा न समझकर अपने दृष्टिकोण को ही प्रसंग की कल्पना करना गजों से आकाश नापने के समान अनुचित पाण्डित्य है। दिशाओं की अवस्तुता पर कुछ भी ध्यान न रखकर सर्वथा दिशाओं को मनोरथ सिद्धि में साधन समझना भूल है, और जैन सिद्धान्त से विरुद्ध है। भगवान् ऋषभदेवजी इक्ष्वाकु-वंशी एवं काश्यप गोत्री थे, उसके विपरीत आदित्यवर्ण शब्द का अभिप्राय तोड़ मरोड़ कर उन्हें सूर्यवंशी कहकर शास्त्रा-वर्णवाद करना क्षम्य नहीं है। "सर्वेषामेव वर्षाणां मेरुरुत्तरतः स्थितः" आगम से भी दिशाओं की निस्सार कल्पना ही सिद्ध होती है। अन्यथा उत्तरा दक्षिणतुल्याः की प्रगति सर्वथा असंगत हो जायगी। डाक्टर ऑपरेशन के द्वारा बाहिरी मोतियाबिंद आदि को ही दूर कर सकते हैं, हृदय के कपाट तो अपने आप गहरी दृष्टि से सोचने पर ही खुल सकते हैं।

विकाशवादी डाक्टर टिन्डथाल, डाक्टर जोर्ज आदि की विकाशमान खोज हम साधनाभाव से असत्य प्रमाणित नहीं कर सकते हैं, तो भी उनके लिख देने मात्र से "आयुष्यं प्राङ्मुखो भुंक्ते यशस्वं दक्षिणोन्मुखः" इस अटपटी बात को आर्षमार्गानुगामी विद्वान् तो कदापि प्रमाण नहीं मान सकता। प्राणपण से सर्वतोमुखी धार्मिक रक्षा करने वाले भट्टारकों का भी काल के प्रभाव से पतित हो जाना स्वीकार करते हुए ब्रह्मचारीजी महोदय उनके द्वारा भविष्य में हो जाने वाले समाज के रुख का भी थोड़ा सा वर्णन कर देते, तो उन्हें संबन्धविच्छेद रूप प्रकाशकीय वक्तव्य पर छींटा कसी करने का सौभाग्य हर्गिज़ प्राप्त नहीं होता। उनकी पूर्वकृत अपूर्व धार्मिक प्रभावना को भूल जाने की भावना किस दुर्भागी, विवेकशून्य के हृदय में स्थान पा सकती है। "जहाँ जिस प्रकार बैठने आदि की (खड़े होने) व्यवस्था होती है, उसी प्रकार तो बैठा (खड़ा हुवा) जायगा, और पूजा की जायगी" इस प्रकार स्वयं स्वीकार करते हुए भी ब्रह्मचारीजी दिशाओं की उलझन में व्यथ ही फंसे जा रहे है। ग्वाले ने पीठ पर चढ़कर पूजाद्रव्य लेकर सन्मुख स्तुति की, इस सीधे अर्थ को स्वीकार न करने वाले ब्रह्मचारीजी ने पूजाद्रव्यमुपानीय वाक्यांश का पूजाद्रव्य को चढ़ाकर यह अर्थ कैसे कर दिया। आपके इस अनर्थ में कौन प्रमाण है? तथा उपानीय का अर्थ लेकर भी नहीं है? आबाल प्रसिद्ध कृष्ण-गोपाल की ओर किंचित् ध्यान भी न देकर आपने गाय चराने वाले ग्वाल को एकान्ततः धर्मशून्य कैसे लिख दिया? और इस उदाहरण को हमारी ओर से विधेयरूप में स्वीकृति का व्यर्थ आरोप भी क्यों कर दिया? हमारे उदाहरण देने का तो मात्र उद्देश इतना ही था, कि जब ब्रह्मचारीजी उदाहरणों को दूसरों को समझाने के लिए विधेयरूप में स्वीकार कर ही चुके हैं, तब

स्वयं समझने के लिए वे उदाहरणों को विधेयरूप में क्यों स्वीकार न करेंगे ? तिसपर भी यदि हमारे समान आप भी उदाहरणों को विधेय नहीं मानते हैं तो, न सही। अस्तु, यही सोचकर आप उदाहरणों को अकिंचित्कर समझ जांय, और उनके स्थान में आर्षविधान लिखदें, तो सारा विवाद ही शांत हो जाय। और फिर जीभ से कांटा निकालने वाली महिला आपके ध्यान में भी न आने पावे। पंचकल्याणकीय प्रतिष्ठा को कल्याण मानकर भी उसमें पूजा करने के प्रसंग का अभाव आपके सिवाय कौन स्वीकार करेगा ? बिम्बप्रतिष्ठोत्सव में बिना किसी नियम के सभी तरफ मुंह करके बैठना स्वीकार करके तो आपने दिशाओं के प्रतिबन्ध पर सर्वथा पानी फेर लिया। प्रतिष्ठामण्डप में यत्र तत्र अवकाशानुसार बैठे हुए दर्शक भक्तिभाव एवं विनीत परिणामों से भगवान् को नमस्कार, गुणानुवाद, प्रशंसा या बार २ सराहना करते रहें, तो क्या उनकी ये क्रियाएं पूजा में शामिल नहीं हैं ? दिशाओं को क्षेत्रशुद्धि के अंतर्गत कहना भी विवेकशून्यता ही है। सूर्य की किरणों में जीवनशक्ति के प्रदातृत्व की कल्पना भी जैन सिद्धान्त से विरुद्ध ही है।

भगवान् के जन्मसमय केवल क्षीरोदधि समुद्र के जल से ही मुख्यतया अभिषेक होता है, और भगवान् का शरीर जन्म से ही अतिशय सुगंधित भी होता है। यों तो निर्मल जल में भी स्वभावतः कुछ गंध होती है, तिसपर भी भगवान् के सुगंधित शरीर के स्पर्श से और भी गंध बढ़ जाती है। अतः स्वच्छ जल से किये हुए अभिषेक के जल को गंधोदक कहने या मानने या लिखने के लिए गंध के संयोग की कल्पना करना भगवान् के जन्मसम्बन्धी दश अतिशयों

मैं से एक के ऊपर हड़ताल पोतने के सिवाय और क्या कहा जाय। गंधोदक की सिद्धि के आधार पर गंधावलेप को आगमोक्त कहना देवधर्मोवर्णवाद ही है। दिशाओं में प्राण-शक्ति का प्रदातृत्व मानना वंध्यासुतसौभाग्यवर्णनवत् व्यर्थ ही नहीं, हास्यास्पद भी है। वीतराग सर्वज्ञ हो जाने के पहिले स्वार्थ का सर्वथा अभाव कहना असंगत है। ख्याति, लाभ, पूजा प्रतिष्ठादि भी तो स्वार्थ ही हैं। अब किस के कौन स्वार्थ है, इसका विवेचन करना अशक्य एवं व्यर्थ है। भय, आशा, स्नेह, लोभों का बाहिरी त्याग कर देने पर भी सभी के साथ इन का अन्वय भी तो नहीं है। यही कारण है, कि द्रव्यलिंगी के द्वारा सभी बातों का त्याग हो जाने पर भी आत्म सिद्धि के साथ व्याप्ति नहीं है। इसीलिए निर्ग्रन्थ साधुओं की मान्यता में प्रधान आधार आर्षागम ही है, न कि सब धान बाईस पंसेरी। जो कोई भी व्यक्ति सब धानों को बाईस पंसेरी बेचना चाहता है, उसका अन्तर्निहित स्वार्थ चाहे पंसेरी से हो चाहे बाईस सेर हो या चाहे कोंदों से हो या भले ही कंमोद से हो, परन्तु किसी न किसी के साथ स्वार्थ तो है ही। ऐसी हालत में निःस्वार्थता का डंका पीटकर विजय प्राप्त करने की आशा दुराशा मात्र ही है। इन पंक्तियों पर ध्यान रखकर यदि ब्रह्मचारी जी महोदय विचार करेंगे,तो उन्हें सहज ही बुद्धिमान् का लक्षण मालूम हो जायगा, और तथ्यांश की शुद्ध झलक से स्वपरहितकारक बन जायँगे। स्त्री द्वारा जिनाभिषेक, पंचामृताभिषेक और स्त्री द्वारा आहारदान का कर्तृत्व आदि को आर्षागम से विरुद्ध बतलाने मात्र से चोर की दाढ़ी में तिनका वाली कहावत को चरितार्थ करते हुए यदि कोई कुछ समझ ले, या इन क्रियाओं की अमान्यता से किसी के माथे पर निःसार ही मुनियों के प्रति अमान्यता का दोषारोपण कर दे, तो दुरभिमान, संचा-

वर्णवाद एवं असम्य उद्दण्डता ही है। और क्या इन अनार्ष-क्रियाओं के प्रचार हो जाने मात्र से जनता के आत्म-कल्याणार्थ पुण्यबंध होने की सभी बाधाएँ दूर हो जायँगी ? श्रावकों के रत्नत्रय सर्वांग सुन्दर, अखंड हो जायंगे ? और क्या किंचिन्मात्र भी मलीनता न रह पायगी ? महाराज जरा सोच समझ कर लिखना चाहिये। आत्मशुद्धि करने के लिए केवल ये ही क्रियाएँ समर्थ हेतु नहीं हैं, और भी तो पुण्य-बंध के, रत्नत्रयाराधन के, एवं उज्वलता बढ़ाने के अनेक मार्ग हैं। फिर इन्हीं के प्रचार के लिये बलात्प्रयत्न क्यों किया जाता है ? और शांत वातावरण को व्यर्थ ही क्यों उत्तेजित किया जाता है ? आज से ३०—४० वर्ष पहिले भी क्या किसी के हृदय में ये अशांति के स्वप्न आये थे ? फिर क्या कारण है, जो अपनी तरफ न देख कर हमारी आर्षागमानुकूल पुस्तक के प्रकाशित होते ही आग लग जाने की आशंका, धर्म डूब जाने का भय, और जैन समाज को खतरे में चले जाने की आशा हो गई। ब्रह्मचारीजी ने उत्तर प्रान्त में इतिहास की दुहाई, यवनों का खतरा, आदि अनिष्ट बातों का शेखचिल्ली की कहानी के माफिक अपने मनगढत मनसूबों के आधार पर पुरुषों के द्वारा स्त्रीप्रक्षाल को रोक देने का बवंडर लिखते हुए, पर्दा प्रथा की पुष्टि हो जाना भी लिख कर कृत-कृत्यता प्रगट की है। यदि उत्तर हिंदुस्थान में इन्हीं बातों के आधार पर पुरुषों के द्वारा स्त्रीप्रक्षाल का बदकर देना पड़ा, तो दक्षिण भारत में कौन सी बातों ने अभी तक भी स्त्रीप्रक्षाल को प्रगति नहीं मिलने दी ? वहाँ तो वे अनिष्ट बातें नहीं थीं। और साथ ही धर्म कर्म विहीन स्वच्छन्द शासनकाल में उस स्त्रीप्रक्षाल को पुनः चालू करने की अपनी सम्मति दे डाली है। इस पर पाठकगण भी विचार करें,

कि सतीत्व विघात के भय से पहिले के समान अभी भी स्त्रियाँ तो अभिषेकार्थ जल भरने के लिए कुओं पर जा नहीं सकेंगी, एवं पुरुषों के द्वारा लाये हुए जल से स्त्रियाँ यदि यवन-काल में जिनाभिषेक नहीं कर सकती थीं, तो अभी भी कैसे कर सकेंगी ? अगत्या चर्मवासरयुक्त नलों के जलों को अभिषेकार्थ उपयोग मे लाना पड़ेगा। इस अनर्थ के निवारणार्थ यदि दयालु ब्रह्मचारीजी ने स्त्रियों को जल लाने देने की कृपा कर डाली, तो क्या आजकल के व्यभिचरित जमाने मे सतीत्वविघात की आशका भी नहीं है ? कि जिस के डर से स्त्रीप्रक्षाल पर रोक लगा दी गई थी। फिर उस को छुट्टी देकर स्त्रीप्रक्षाल को प्रचलित करने की क्यों सूझी है ? धन्य है ब्रह्मचारीजी की ऐतिहासिक खोज एव मनगढत पुलाव पकाने की आदत को। यदि वस्तुतः स्त्रियो को धर्म कर्म मे लगाने की फिकर से ही ब्रह्मचारीजी दुर्बल होते जा रहे हैं, तो उन्हे इन नयी मनमानी प्रथाओं के अतिरिक्त श्रावकीय षट्कर्म, गृहकार्य, कुटुम्बपोषण, सतानशिक्षण, आध्यात्मिक उच्चकोटि के ग्रन्थों का स्वाध्याय, आदि सत्कार्य करने कराने के लिए सत्प्रयत्न करना चाहिये, ताकि उन्हे स्वच्छदतया बाजार में घूमना, सीनेमा आदि देखना, भण्डवचनमिश्रित गीत गाना महीन वस्त्र पहिनना, आदि कुकार्य करने की इच्छा भी पैदा न हो सके। और पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से जो कुछ महिलाओं मे स्वच्छदता आगयी है, उसे मिटाने के लिये उन्हें प्राचीन पद्धति के अनुसार उपयुक्त धर्म कार्यों में लगाना चाहिये। ताकि वे इस बीसवीं शताब्दी आदि आधुनिक काल की स्वच्छद वृत्ति से त्राण पाकर प्राचीन रीति से अध्यात्मोप-योगी एव व्यवहारोपयोगी कार्यों में इस प्रकार से लगी रहें, कि उन्हें एक मिनिट भी निठल्ले बैठे रहने की फुरसत न मिलने पावे।

उदाहरणों की निस्सारता एवं विधेय की आवश्यकता कई बार लिखी जा चुकी है। अभी तक एक भी विधेय न बताकर भी उदाहरण ही देते जाने की पद्धति उपयोग में लायी जा रही, नये पुराने झगड़ों के बल पर अनार्ष ग्रन्थों को येन केन प्रकारेण मान्य करने की प्रेरणा की जा रही है। उसे स्थगित किया जाय। अपना आदर्श, कायम करने की भित्ति विधेय एवं तदनुकूल महापुरुषों की कृतियाँ ही हैं। विधेयाभाव में किसी की भी कृतियों को मान्य नहीं किया जा सकता है। इसी लिये ऐसा करना प्रथमानुयोग की उपेक्षा करना भी नहीं है, एवं भगवान् के माथेपर चढ़कर अभिमान करना भी नहीं है, किन्तु विवेक पूर्वक भगवान् की आज्ञा मानना ही है। इस गहरे तत्त्व को न समझ कर उदाहरणों के बल पर मनमानी क्रियाओं को बलात् प्रोत्साहन देना शोभा की चीज नहीं है। और आर्षमार्ग से सर्वथा विपरीत है। प्रामाण्य की सिद्धि में सन् संवत् एवं प्राचीनता अर्वाचीनता की भूलभुलैया कारण नहीं। उसकी कसौटी तो वीतरागता की सच्ची झलक ही है। महापुरुषों में महापुरुषार्थ तो आगमानुकूल आचरण से ही आता है, अतः वह ही जीवन निर्माण विधाता है। आगम से विरुद्धाचरण करने वालों को ब्रह्मचारीजी भले ही महापुरुष मानलें। और उनको अपना जीवन निर्माण करनेके लिए पथप्रदर्शक भी समझलें। बाकी विज्ञपुरुष तो आगम को ही पथप्रदर्शक समझते हैं। और तदनुकूल सदाचारियों को भी आदर्श और पूज्य समझते हैं। इससे प्रथमानुयोग की मिट्टी पलीत करने की आशंका दुराग्रहियों को ही हो सकती है। सदाशयी विद्वान् तो चरणानुयोग एवं प्रथमानुयोग दोनों को प्रमाणत्वेन समान समझते हैं। प्रथमानुयोग कथित कथाओं की मान्यता का मूलाधार तो चरणानुयोगी विधान ही है। और इसकी

महत्ता समझना ही विद्वत्ता है ॥

ब्रह्मचारी सूरजमलजी के द्वारा दिये हुए प्रमाणों की निस्सारता

पूजासार, योगीन्द्रश्रावकाचार, नेमिदत्तश्रावकाचार, धर्मसंग्रहश्रावकाचार, दामोदरचन्द्रप्रभचरित्र, हरिवंशपुराण, पद्मपुराण, वसुनंदिश्रावकाचार, जयसिंहनंदिवरांगचरित्र, यशस्तिलक, भावसंग्रह, नागकुमारचरित्र, सकलकीर्ति-श्रीपालचरित्र, वर्धमानवरांगचरित्र, नेमिचन्द्रश्रीपालचरित्र, आराधना कथाकोष, षट्कर्मोपदेशरत्नमाला षट्पाहुड की संस्कृत टीका, चरचासमाधान, विद्यानुवाद, इन्द्रनन्दिसंहिता, क्रियाकोष, नित्यमहोद्योत, सागारधर्मामृत, अनागारधर्मामृत इन ग्रन्थोंके कुछ प्रमाण रखते हुए ब्रह्मचारीजी महाराज अपनी पुस्तक के पृष्ठ १२४ से लेकर १४७ तक के पृष्ठों को व्यर्थ ही काला कर गये हैं। इनमे एक भी ग्रन्थ कुंदकुदाम्नायी मूलसंघ का स्वतः-प्रमाण रूप नहीं है। कोई भट्टारकों ने आचार्यों के नाम पर रख दिये है, कुछ सराग श्रावको के द्वारा रचित हैं, कुछ काष्ठासंघी होने से परतःप्रमाण स्वरूप है। कुछ ग्रंथ ऐसे हैं जिनको हमने प्रतिवादी को समझाने के लिए तदभिमत होने से उन ग्रन्थों के कुछ श्लोक यद्यपि उद्धृत कर दिये है तो भी वे हमको मान्य नहीं है, जिसका खुलाशा हम पहिले ही कर चुके हैं। तिस पर भी हमारी मान्यता का वर्णन करके व्यर्थ ही जनता को गुमराह करने का प्रयत्न किया गया है। एक ग्रन्थ ऐसा भी है कि जिसमें अपनी बात न मानने वालों को गूथलिप्त जूतों से मारने तक का उल्लेख है। पाठक शोचें कि वीतराग शांत पद्धति में ऐसीं अनुचित गालियों का समावेश होना

क्या सम्भव है ? एक ग्रन्थ में मनमानी तौर पर अभिषेक को एकान्ततः पूजा में सम्मिलित समझ कर सामान्य पूजा में भी स्त्रियों के द्वारा किये हुए अभिषेकों का समावेश करके व्यर्थ ही स्त्रीप्रक्षाल की सिद्धि करनी चाही है, सो भी केवल उदाहरणों से, जिनका कि हम पूर्णतया निषेध पहिले ही कर चुके हैं। कुछ प्रमाणों में जिनपूजा की जगह पर जिन चरणों पर गधावलेप का ब्रह्मचारीजी को स्वप्न सा आ गया है। अनुवाद कर्त्ता के नाते पं० दौलतरामजी, पं० गजाधरलालजी मा० दीपचन्द्रजी वर्णी, पं० कैलाशचंद्रजी शास्त्री, बाबा दुलीचंद्रजी आदि शुद्धाम्नायी विद्वानों को भी अपने मन्तव्यों के प्रतिकूल प्रासंगिक श्लोकों का भी हिन्दी अनुवाद करने मात्र से ही ब्रह्मचारीजी ने अपनी पक्ष का समर्थक समझ लिया है। गर्विताशय व्यक्ति अपने आवेश में आकर अनर्थ कर डालता है, और उसके दुष्परिणाम से त्राण पाने के लिए सभी उचित अनुचित कार्य कर डालता है। गर्विताशय रावण ने राम के साथ संधि नहीं की, फलस्वरूप जब राम से सदुपायों के द्वारा त्राण पाने की संभावना में आशका हो गई तब बहुरुपिया बनने रूप कार्य क्या समुचित ही था ? इसी प्रकार से अपने पूर्वजन्म में किये हुए दुष्कर्म के फल स्वरूप कुगति से बचने के अभिप्रायः से प्रतिमा का स्पर्श कर भी लिया तो क्या सिद्धान्त हो गया, आखिर रहा तो उदाहरण ही। जब वर्त्तमान में वीतरागी छट्ठे गुणस्थानी साधु भी संत्रस्त प्राणियों को यन्त्र मंत्र एवं तन्त्र देते हुए देखे जाते हैं, तो पंचम गुणस्थानी आर्यिका का उपदेश आगमानुकूल ही हो या सर्वथा मान्यरूप सिद्धान्त हो जाय यह कैसे स्वीकार किया जा सकता है। बृहन्नेमिचन्द्रकृत एवं सकलकीर्त्तिकृत श्रीपालचरित्रों को सागारधर्मामृत से अधिक महत्व नहीं मिल सकता है, ऐसी हालत में यदि

जब सागारधर्मामृत भी परतःप्रमाण ही है, तो श्रीपाल-चरित्रों को स्वतःप्रमाणतया कैसे मान्य किया जा सकता है। जैन विद्यालयों में श्रुतबोध, मेघदूत, रघुवंशादि अजैन ग्रन्थ भी पढ़ाये जा रहे हैं तो सेठजी के विद्यालय में सागारधर्मामृत का पढ़ाया जाना क्या कोशने की चोज कही जा सकती है? जन्मोत्सव सम्बंधी क्रियाओं के सहारे श्रीजिनप्रतिमाभिषेक को स्त्री के द्वारा सिद्ध करने का लेख केवल अनर्थ प्रलाप ही है। जयधवला में उल्लिखित अभिषेक पूजन विधि का सर्वथा साहचर्य समझना भी उचित नहीं है, क्योंकि इस के औचित्य की स्वीकृति से शूद्रों के द्वारा भी अभिषेक सिद्ध हो जाने का दुःप्रसंग अनिवार्य हो जायगा। परिग्रह की दृष्टि से जल व पंचामृत समान हैं, यह लिखते हुए भी लिखा है, कि जल दूध दही की परिग्रह सञ्ज्ञा भी नहीं है, और शरीर पर ठहरना ही परिग्रह है, आदि ऊटपटांग बातों का क्या उत्तर दिया जाय? केशर और फूल चढने की वजह से केशरियाजी मे ऋषभदेवजी की प्रतिमा जब कि श्वेताम्बरी प्रतिमा के समान कर दी जाती है, फिर भी भूल बताना ही महाभूल है। श्रावक विना श्राविकात्व और श्राविका विना श्रावकत्व का न होना स्वीकार कर लिया जाय, तो जितनी कन्याएं, बालब्रह्मचारिणी स्त्रियां, एवं पतिविहीन महिलाएं हैं कोई भी श्राविका नहीं हो सकता, और इसी प्रकार जितने कुमार, बालब्रह्मचारी एवं पत्नीविहीन सज्जन पुरुष हैं, एक भी श्रावक नहीं हो सकता। श्रावक श्राविकाओं के लिए भिन्न२ षट्कर्म नहीं हैं। दोनों को षट्-कर्मोंको एकसी रीति से पालना चाहिये, परन्तु जो आगमविहित अधिकारों की विभिन्नता है, वह भी तो उपेक्षणीय नहीं है। इस अधिकार विभिन्नता को मानना भी तो सम्यक्त्व का साधन है।

आगम की अनभिज्ञता नहीं, किन्तु सर्वागम की अत्युष्णमान्यता है। पं० आशाधरजी के समान वामदेवजी को भी मूलसंघी मानना आंख मीचकर गड्ढे में गिरना है। स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा में जिन शासन देवताओं की पूजा का निषेध लिखा है, उसी का विधान करने वाले वामदेव जी को मूलसंघी कहना वन्ध्यासुतसौभाग्यव्यावर्णनवत् मिथ्या है, अतः इस मिथ्यात्व से बचने की इच्छा रखने वाले का क्या कर्त्तव्य है, उसे पाठकगण ही सोचें। मिथ्यात्व से बचाने, बचने का प्रयत्न करना कराना छाती से गाडी ढकेलना या व्यर्थ परेशान हो कर कष्ट उठाना नहीं है, और न इस विवेकशील प्रगति के साथ आगमाभास का मित्रत्व ही हो सकता है। वैसे तो संसार के समस्त सत्वों पर मैत्री रखना ही श्रेयस्कर है। गंगायां घोषः के समान त्वत्पादपंकजसमाश्रयणं को उपलक्षणा समझना ही आम्नाय की शुद्धता है, और पद्मनन्द्याचार्य आदि आचार्यों की मान्यता भी इसी प्रकार है। सहज सुगंधित समस्त शरीर को चंदन द्वारा लीप देना भी वीतरागता को खो देना ही है। जिस किसी के पैरों में वर्म (सूजन) आजाय उसके दोनों चरणों को लीपना आवश्यक है, परन्तु सर्वथा नीरोग वीतराग भगवान् के चरणों को लीपना महामुग्धता है। जीवंयशा, सुलोचना, अजना, मदनसुंदरी आदि का दो दो तीन तीन बार उल्लेख कर के पुस्तक का कलेवर व्यर्थ ही बढ़ाया गया है। जिन देवरचित स्वर्णकमलों से अलिप्त रह कर भगवान् गमन करते हैं, उन कमलों को वनस्पतिकायिक लिखना या सिंहासनस्थ कमल से भी अलिप्त रहने वाले भगवान् के चरणों से कमलों का छू जाना लिखना, आगमावर्णवाद रूप वज्रपाप है, एवं वादिराज,

मानतुंग आदि आचार्यों की विशुद्ध कृति को लांछित करना है। षट्खंडागम के प्रणेता भूतबलि के समकालीन पुष्पदन्त आचार्य को अपभ्रंश महापुराण का कर्त्ता बताना, अपनी पुरानी दुर्नीति को ही दुहराना है।

श्रीसमन्तभद्राचार्यादि ऋषियों ने श्रीजिनेन्द्र भगवान् की पूजा को अतिथि संविभाग व्रत में सम्मिलित करके वर्णन किया है। और अतिथिसंविभाग व्रत में मुनियों के लिये आहारदान करने की मुख्यता है। अतः रात्रि के समय श्रीजिनेन्द्र भगवान् की पूजा करने का प्रसंगोपात्त के बहाने विधान करना जैन-सिद्धान्त पर पानी फेरना है। अथवा इस प्रकार के अनुचित विधान करने वालों को प्रमाण पुरुषों में गर्भित समझना अपने स्वच्छंद हृदय पर पानी चढ़ाना ही है, जो कि सर्वथा अनुचित है। प्राचीन आर्ष सिद्धान्त से सर्वथा विरुद्ध, स्त्रीप्रक्षालादि मनमाने अनर्थों को समर्थन करनेवाला बाहुल्य तीन काल में भी आदरणीय एवं ग्राह्य नहीं हो सकता है। और तद्विपरीत आर्षोक्त सत्क्रियाओं को नतमस्तक होकर मान्य करने वालों की अल्पसंख्या भी सदा सर्वथा अभिवंदनीय एवं श्लाघ्य होती आई है, हो रही है, और भविष्य में भी होती ही रहेगी। चाहे कोई हजारों की संख्या में इकट्ठे होकर शुद्धाम्नाय को कोसते रहें, तो भी उसका सत्तानाश करने की किसी में भी सामर्थ्य नहीं है। असंख्य चमगादड़ एवं उल्लू आदि निशाचर घटपटप्रकाशी सूर्य को अनादि काल से कोशते आये हैं, कोश रहे हैं और आदत से लाचार होकर बराबर कोशते भी रहेंगे, तो भी दिनकर तो दोषाकर हो नहीं सकता। और न दोषाकर हजार बार प्रशंसित होकर भी दिनकर ही बन सकता है। तो फिर आपस में एक दूसरे को नीचा दिखाने की दृष्टि से पारस्परिक प्राचीन प्रेम बंधन को आमूल नष्ट करनेवाली

नूतन मनमानी क्रियाओं को प्रोत्साहित भी नहीं करना चाहिये। और शांति के साथ अपनी २ आम्नाय एवं मान्यता के अनुसार पूर्ववत् धर्मसाधन करने देना चाहिये। इसी में सर्वत्र सुख शान्ति की स्थिति, वृद्धि, और फलोदय है, प्राचीन आर्षमार्ग को अक्षुण्ण बने रहने के सदुद्देश्य से हमारा यह प्रयत्न हुवा है, तिस पर भी हमारे किसी उत्तेजित शब्द से किन्हीं महानुभावों को कुछ कष्ट हो गया हो तो हम उनसे क्षमा याचना करते हुए विनम्र प्रार्थना करते हैं, कि वे हमारे कटुशब्दों की ओर नजर न डालते हुए हमारे त्रस्त हृदय की परख करके, प्राचीन सन्मार्गानुसार ही अपना कर्त्तव्य निश्चित करें। और भूलभुलैयों के चकाचौंध में न फँस कर सतत आत्महित करते रहें।

श्रीमान् बाबू तेजपालजी काला और महासभा

श्री भा० दि० जैन सिद्धान्तसंरक्षिणी सभा बम्बई के पाक्षिक मुखपत्र जैनदर्शन ता० १२-१-५५ के छट्ठे अंक मे बा० तेजपालजी काला सहायकसम्पादक जैनदर्शन के द्वारा लिखा हुवा "पं० शिवजीरामजी और महासभा" हेडिंग से एक लेख प्रकाशित हुवा था। उसमें लिखा था कि हमने अपनी प्रसिद्धि के लिए स्त्रीप्रक्षालनिषेध नाम का ट्रैक्ट निकाला है। उसको हमने यद्यपि महासभा के उपदेशक विभागीय मंत्रित्व की हैसियत से नहीं निकाला है, और न उसका महासभा से कोई सम्बन्ध ही है, वह तो हमारी स्वकीय विचारधारा है। और न उसको हमने यशोलाभ की इच्छा से ही लिखा है, तो भी कालाजी ने हमारी निंदा के रूप में स्तुति कर डाली है, वह बिल्कुल झूठ है। कालाजी ने यह नहीं सोचा कि इसमें हमारा दोष ही क्या है? जब कि कालाजी

के द्वारा प्रमाणरूप में अभिमत त्रिवर्णाचार में यह विधान किया गया है कि अपना यश फैलाने वाले भाट आदि को भी दान करना चाहिये। हमारे पास अर्थाभाव से दान करने की तो गुंजाइश थी नहीं, इसी लिए ट्रैक्ट निकाल कर ही त्रिवर्णाचार की आज्ञा को प्रकाशित कर दिया है, इससे तो कालाजी को गौरव होना चाहिये था। भगवान् कुंदकुंदाचार्य आदि ने जैनसिद्धान्त की रक्षार्थ एवं प्रचारार्थ अनेक बड़े २ शास्त्रों की रचना की है, उनको तो किसी ने भी यशोलोभी नहीं समझा। यहाँ तक कि प्राचीन आचार्यों के कथन से विपरीत स्त्रीप्रक्षालविधायक ट्रैक्ट के लेखक श्री पं० श्रीलालजी पाटनी मन्त्री स्वाध्यायप्रचार विभाग महासभा को, एवं स्त्रीप्रक्षाल, पंचामृताभिषेक विधायक ट्रैक्ट को श्री पं० मनोहर-लालजी शास्त्री के द्वारा लिखवा कर प्रकाशित करने वाले श्रीमान् सेठ गंभीरमलजी पाण्ड्या सभापति महासभा को तो यशोलोभी नहीं लिखा गया। और हमको आर्षमार्गीय प्रमाणों के साथ एक छोटा सा ट्रैक्ट निकाल देने की वजह से कालाजी ने झट से यशोलोभी समझ ही नहीं लिया, किंतु प्रकाशित भी कर ही दिया। इससे जैन समाज प्रसन्न हो या न हो, परन्तु आगम प्रमाणों की भी परवाह न करके आप जिनकी सहायतार्थ मेंदान में आकूदे हैं वे तो आप के ऊपर प्रसन्न हो ही जायंगे और उनकी कृपा से सहायक रहते हुए आप सतत यशोलाभ करते हुए अपने योगक्षेम को चिरस्थायी रखा ही सकेंगे। भला फिर आप को रोक ही कौन सकता है।

महासभा के पदाधिकारी उक्त पाटनीजी एवं पाण्ड्याजी की कृतियों से आज तक किसी को भी महासभा की नीति

और उद्देश्यों में कोई बाधा पहुंचने की आशंकामात्र भी पैदा नहीं हुई, और ब्रह्मचारी सूरजमलजी का इशारा पाते ही कालाजी के दिमाग में न जाने क्यों महासभा की नीति एवं उद्देश्यों में बाधा हो जाने के दिवास्वप्नों का घोर साम्राज्य छागया ? हमने अपने ट्रैक्ट में आगम विरुद्ध एक अक्षर भी नहीं लिखा है, कालाजी ने इस पर तो कुछ भी विचार नहीं किया, और किस्सा कहानियों का हवाला देकर हमारी रचना को वाङ्मात्र से आगमविरुद्ध एवं हमारा निजी विचार विमर्ष कह दिया है। हमारे लेख से कौन सी संयम, नीति की मर्यादा नष्ट हो गई, इस बात को आर्षप्रमाण पूर्वक कालाजी को और उनके हिमायतियों को प्रगट करना चाहिये था, सो तो किया नहीं, और जो आजकल पथभेदों का उल्लेख करके समुचित बातों पर भी विचार विमष न करने देने की प्रवृत्ति चल पड़ी है, उसी तेरा, बीस पंथों की आड़ मे कालाजी ने अपने को सफल मनोरथ हो जाने की ठान ठानली है, जो कि सर्वथा अप्रासंगिक और अनुचित है। अन्यथा कालाजी ही कहें कि महासभा आदि संस्थाओं पर क्या किसी खास पंथ का ही स्वत्व है ? यदि नहीं, तो फिर नीति उद्देश्य बिगाड़ देने की झूठी कल्पना ही क्यों की गई ? और जो जैन समाज ३०-४० वर्ष पहिले तक शांति के साथ अपनी २ आम्नाय के अनुसार धर्मसाधन कर रही थी, उस को आगमपंथ के बल पर मनमानी नूतन क्रियाओं के द्वारा शान्त उपायों से ही नहीं, किन्तु अनुचित बल दे कर भी उभाड़ना क्यों प्रारम्भ कर दिया गया ? लिखते हुए दुःख होता है कि अभी हाल ही श्रीसम्मेदशिखरजी (मधुवन) में एक क्षुल्लकजी को मुनि दीक्षा दी गई थी, उस समय आचार्य बनने की उत्कट आकांक्षा से दो साधु आपस में बुरी तरह

से लड़ पड़े थे, और उनमें से एक ने विजयी हो कर एक नये शिष्य को मूंड ही लिया, और इस महोत्सव के उपलक्ष में अनेक महिलाओं के द्वारा विना स्नान कराये, साधारण वस्त्र पहिने हुए ही श्रीजिनाभिषेक भी करा ही दिया। ये नये आचार्य पहिले तो स्त्रीप्रक्षाल के कट्टर विरोधी थे। परन्तु आचार्य पदोपलब्धि में यह अनुचित कृत्य करा ही डाला। क्या कालाजी की दृष्टि में यह अशांति को उत्तेजित करना नहीं है? इसी प्रकार के अनेकानेक नये विपरीत आक्रमणों से बचने लिए ज्यों ही हमारी ओर से जरा सा उद्बोध दिखा, त्यों ही आग धधक गई, धर्म डूब गया आदि व्यर्थ एवं बीभत्स आवाजें निकलने लगीं। उक्त पाण्ड्याजी ने महासभा के सभापति रहते हुए भी चर्चासागर को प्रकाशित किया, पं० मक्खनलालजी न्यायालंकार ने विद्यानुवाद, चर्चासागर की दुहाई देकर भगवान् की आरती में गाबर तक रखने का समर्थन किया, श्रीमान् सेठ गोपीचन्द्रजी ठोल्या आदि बड़े २ पदाधिकारियों ने पचामृताभिषेकपाठसंग्रहादि ग्रन्थों को प्रकाशित किया, तब तक तो किसी ने भी आग धधक गयी, या धर्म डूब गया आदि आवाजों से जैन समाज की शान्ति का भंग हो जाना प्रकाशित नहीं किया। और भवितव्य को दुर्निवार समझ कर संतोष ही रक्खा। परन्तु आज आगम-पथी लोगों को असंतोष ने धर दबाया। इसका खुलाशा इस प्रकार है कि हमने अपनी पुस्तक में किसी भी पंथ का जिकर नहीं किया, तो भी सम्पादकजी महोदय ने अपने जैनदर्शन में पंथभेद या किसी खास पंथ के पक्षपाती होने का फतवा निकाल दिया। और अब सहायकजी उसी फतवे का समर्थन कर रहे हैं, यह पद्धति ठीक नहीं है। इस पंथभेद के भूत को यों ही छोड़कर प्रत्येक बात का निर्णय आर्षमार्गीय विधानानु-

सार ही करना चाहिये था। या ये सदुपाय नहीं बन सकें ये, तो चुपचाप ही रहना चाहिये था। यदि ऐसा हो जाता तब तो कालाजी अपने प्रतिवादियों को भी चुप ही पा सकते थे। और समाज शान्ति पूर्वक अपनी २ मान्यता के अनुसार धर्माराधन करती हुई कालाजी को अपना हार्दिक आशीर्वाद ही देती रहती। जिसकी बदौलत कालाजी को भी अपनी आम्नाय के अनुसार धर्माराधन करने में प्रोत्साहन ही मिलता रहता। और कालाजी को व्यर्थ की फिरके बाजी की स्पष्ट घोषणा करके क्षोभ का कारण बनने की नौबत ही न आती।

कालाजी यह तो स्वीकार करते ही हैं कि तेरा बीस पंथों की सत्यासत्यता का निर्णय नहीं किया जा सकता है, और न किसी एक को आगम की अवहेलना विधायक भी ठहराया जा सकता है। फिर स्वयं ही क्यों इस बखेड़े में आ पड़े। जो कोई पक्षव्यामोही आर्षागम से विरुद्ध बातों का आचरण या प्रचार करेगा या करायेगा वह स्वयं ही उसका फल पायगा। किसी की इच्छानुसार पकड़ा हुआ पक्षव्यामोह जबरन् छुड़ाया भी तो नहीं जा सकता है, फिर व्यर्थ ही उधारी राड़ खरीदने की प्रक्रिया का प्रारंभ करना या रखना, तो अनुचित ही है। यदि इन नूतन प्रथाओं को उत्तेजित करने की आंतरंगिक भावना को ट्रैक्ट एवं अखबारों में प्रकाशित न कराया गया होता, तो जैन समाज तो जैनधर्म के झंडे के नीचे रहती हुई अपने सौहार्द से धर्मसाधन कर ही रही थी। और यदि अब भी इन बातों को स्थगित रक्खा जाय तो पूर्ववत् अपना शान्त जीवन बिताने के लिये तैयार ही है।

महा महिम १००८ श्री गोम्मटेश्वर भगवान् की प्रतिमा

पर अपनी २ इच्छानुसार सभी अभिषेक करते ही हैं, किसी ने किसी का किसी तरह से कभी भी विरोध नहीं किया। परन्तु उस अतिशयविशिष्ट देवाधिष्ठित विशालकाय प्रतिमा का एक बुढ़िया के द्वारा लुटिया भरे दूध से पूर्णतया अभिषिक्त हो जाने के बल पर पंचामृताभिषेक या क्षीरप्रक्षाल कोआगमानुकूलता मान लेना शेखचिल्ली के द्वारा स्वाभिमत कल्पना को सत्य समझने के समान निस्सार ही है। क्योंकि इस घटना की सत्यता विधायक कोई आर्षप्रमाण भी तो नहीं है, ताकि इस को सत्य ही समझ लिया जाय। यदि किसी तरह इसे सत्य भी मान लिया जाय, तो सिवाय अतिशय और चमत्कार के केवल जरा से दूध से श्रीगोम्मटेश्वर भगवान् की मूर्त्ति को अभिषिक्त हो जाने की कल्पना भी क्या किसी के हृदय में आ सकती है, कालाजी, वह तो केवल अतिशय एवं चमत्कार ही है। इन अतिशय और चमत्कारों को आगम का रूप नहीं दिया जा सकता है, क्योंकि श्रीसमन्तभद्राचार्यजी ने "देवागमनभोयानादि०" श्लोक के द्वारा स्पष्ट कर दिया है, कि चमत्कारों से पूज्यता नहीं आती। फिर इन चमत्कार एवं अतिशयों की मान्यता के बल पर मनमानी क्रियाओं को क्यों आगमानुकूल बताया जाता है। और अश्लाघ्य कृत्यों का भी जनक हमें क्यों कहा जाता है? हम इस बात का खुलाशा कर चुके हैं, कि इन अश्लाघ्य कुकृतियों के आदि कारण वे ही हैं, जिन्हों ने जैन समाज की शांति को भंग करने के लिये सब से पहिले कदम बढ़ाया है, और जिन्होंने महासभा के उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर आरूढ़ होते हुए भी भीषण परिस्थिति को सर्व प्रथम उत्तेजना दी है, उनके विचार और कृतियों के द्वारा अभी तक भी भीषण परिणाम का असर समाज पर नहीं पड़ सका,

तो फिर हमें ही इस मिथ्यारोप का भाजन व्यर्थ ही क्यों बना दिया ? हमारी कृतियों से यदि किसी विशिष्ट पंथ की जागृति हो सकने की आशंका है, तो उन लोगों की कृतियों से किसी भी विशिष्टातिरिक्त पथ की जागृति नहीं हुई, यह कैसे माना या समझा जा सकता है : व्यक्तिगत परस्पर विभिन्न विचारों की भित्ति पर सभा और संस्थाओं के अनिष्ट हो सकने का दिवास्वप्न आप को नहीं दिखना चाहिये था। और न पंथ भेदों का बखेड़ा खड़ा करके सभाओं और सस्थाओं के विघटन की आशंका को भी उत्तेजित करना कराना चाहिये था। लालाजी, महासभा ही अखिल भारतीय दिगम्बर जैन समाज की प्रतिनिधि रूप में एक प्राचीनतम संस्था है। हमारा तो यही दृढ़ विश्वास है। इसीलिए इसके उच्चातिउच्च पदाधिकारी समाज के सभी प्रतिष्ठित व्यक्ति होते आये हैं, और होते भी रहेंगे। इस प्रकार की मान्यता आप को और आप के हिमायतियों को भी रहती आयी है। परन्तु कुछ समय से आप लोगों को महासभा से कुछ अरुचि सी न जाने क्यों होने लगी है ? और शायद इसी आशय से अब आप लोगों ने पंथों का बखेड़ा खड़ा करके उस के विघटन की झूठी आशंका पैदा कर दी है। अन्यथा अभी तक तो अपनी आम्नाय की कट्टरता को कायम रखते हुए समस्त भारतवर्षीय दि० जैन महाशय महासभा के पदाधिकारी होते हुए भी समाज की अपूर्व सेवा कर रहे हैं। और महासभा के झंडे के नीचे नतमस्तक हैं। इससे हमारी तो यह भावना है कि सभी सज्जन आचंद्रदिवाकर बराबर महासभा की सेवा करते ही रहेंगे। फिर न जाने आपको इसके विपरीत आशंका

क्यों खड़ी हो गई ? महासभा किसी विशिष्ट पंथ की न थी, न है, और न होगी ही, तब उसे किसी विशिष्ट पंथी की वैयक्तिक कृति पर सतर्कता के साथ विचार करने की क्यों व क्या आवश्यकता है ? वह तो पंथ भेद के पचड़े में फंस कर अपना अनिष्ट कर लेने के लिए स्वप्न में भी तैयार नहीं है, न थी, और न होगी ही। अब रही आप की रुचि व्यवस्था, उसके जुम्मेदार तो आपही हैं। शायद इसी जुम्मेदारी के बल पर आपने हमें शांति में सुरग लगाने वाला भी समझ लिया है। परन्तु आशांति के आदि कारण कौन हैं, यह आपकी समझ में अभी तक भी नहीं आया, और आता भी क्यों ? कारण, आपने अपनी रुचि का आधार अपने अनुयायियों के संगठन को ही समझ लिया है। तभी तो आप ने उनकी हां में हां मिलाना प्रारंभ कर दिया है। हमने वर्त्तमान कालीन सभी मुनियों को आगम के विपरीत नहीं बतलाया है, और न आपके लिखे माफिक किसी को भी निजी लक्ष्य का शरसंधान ही बनाया है। हां श्रीकुंदकुंदाचार्य आदि परमर्षियों के वाक्यों को प्रमाण में देकर स्त्रियों को यज्ञोपवीत के अभाव में मुनिदान की अनधिकारिणी अवश्य लिखा है। तथा सत्यसिद्धान्त को शिर झुकाते हुए तदनुकूल वर्त्तने का इशारा मात्र किया है, इससे किसी ने अपने को कुछ समझ लिया हो, तो हम क्या कर सकते हैं। क्योंकि श्रीकुन्दकुन्दाचार्य आदि परमर्षियों की देन से कौन उऋण हो सकता है ? आचार्य और मुनियों की हीरक जयन्ती आदि उत्सव मनाने की बात तो जाने दीजिये, हमतो महासभा की समस्त कार्यवाहियों को मान्य करने के लिये सर्वथा महासभा के साथही हैं। ऐसी हालत में भी आप हमें,

अपने और आपके कुछ हिमायतियों के समान महासभा के कार्यों में रोड़ा अटकाने वाला, या नवीन संगठन करने वाला क्यों समझ बैठे हैं ?

हरिजन मंदिर प्रवेश का विरोध करने वाले आचार्य महाराज और महासभा के प्रति उच्छृंखल होकर अएडबएड कहने और लिख मारने वालों के सामने आप का कुछ वश नहीं चला तो खामखूवाह झूठा ही दोषारोपण करके हमारे विरुद्ध महासभा को भड़काने के लिए आप ने कमर कस ली। हमें तो आपकी परणति में इतना वैपरीत्य हो जाने की स्वप्न में भी आशंका नहीं थी, कि आप आगम विरुद्ध नूतन कृतियों के अन्धभक्त होकर आर्षमार्गानुयायियों को यद्वा तद्वा या अंट संट लिखने पर उतारू हो जायगे। लालाजी साहिब हम यह नहीं कहते हैं, कि आप हमारे विचारों को मानिये या न मानिये। और यह भी नहीं कहते है कि आप पक्के बीस-पंथ के श्रद्धालु श्रीमान् सेठ लालचन्द्रजी सेठी आदि के विचारों को मत मानिये या मानिये। हमारी मान्यता हमारे पास रहे, और आपकी मान्यता आप के ही पास रहे। ऐसी हालत में भी तो जैनत्व के नाते हम और आप सभी मिलकर महासभा का सन्मान करते हुए सामाजिक संगठन को दृढ़ता के साथ कायम रख सकते हैं। और अपनी २ ढपली अलग २ न बजाकर मिलजुल कर भी रह सकते हैं। मानसिक एवं आंतरंगिक भावनाएं कब किसकी एक हो सकती हैं, और किसकी मजाल है कि उनका ऐक्य कर सके। इसी प्रकार यह भी जैनाभिमत अटल सिद्धांत है, कि कोई भी किसी भी द्रव्य का परिणमन अपनी इच्छानुसार नहीं कर सकता है, और न करा ही सकता है।

सभी द्रव्यों में जैसी २ शक्ति है, उनमें वैसा ही स्वाभाविक या वैभाविक परिणमन स्वयमेव होता रहता है। हां यह बात दूसरी है कि किसी के परिगमन में दूसरी द्रव्य उदासीन रूप में सहायक हो जाय। सो तो आप भी हो सकते हैं और हम भी हो सकते हैं। परन्तु प्रेरक किसी को भी नहीं होना चाहिये। ऐसी हालत में आगम के ठेकेदार बनने या बनाने की कल्पना करना ही सर्वथा मिथ्या है। जब कि श्रीऋषभ देव भगवान् का भी प्रभाव अपने पोते मारीचि पर नहीं रह सका, तो किसी व्यक्ति विशेष का प्रभाव किसी सामुदयिक सगठन पर पड़ ही जाय, ऐसा कोई सुनिश्चित सिद्धांत नहीं है। महासभा के सभी विभागीय मत्रियों का उत्तर दायित्व समान है, तौभी आपने हमारे वैयक्तिक विचारों को अपने प्रतिकूल होने की वजह से ही उपदेशक विभागीय मन्त्री के मंत्रित्वको विशेष उत्तरदायी मानलिया है जब कि आपके विचारों के अनुकूल विचार रखने वाले विशिष्ट पदाधिकारी संगठन शक्ति मे दरार नहीं डाल सके, तो हमारे ही द्वारा उस में दरार पड़जाने का निश्चय आपने कैसे कर लिया। उसका प्रधान कारण विचारों की प्रतिकूलता या अनुकूलता अथवा उनका उदासीन प्रचार किसी के विघटन या सगठन का कारण नहीं है, तिस पर भी आपने जो ब्रह्मचारी सूरजमल जी के इशारे पर नग्नताण्डव प्रारंभ कर दिया है वह सर्वथा स्थगित रहने के ही लायक है, और ऐसा होने पर ही अभिप्रेत शांति कायम रह सकती है। ऊपर में लिखी हुई धधकती हुई आगही अभी तक महासभा का कुछ भी नहीं कर सकी तो भला छोटीसी चिनगारी क्या कर सकेगी। अब रही सयोग विच्छेद (असहयोग) की धमकी, सो हमने तो धमकी

भी नहीं दी। इसके विपरीत महासभा ने तो अपने अटल नियम के अनुसार विधवा विवाह, विजाति विवाह, छूआछूत व्यवहार-लोप इन बातों के प्रचारकों से पूर्णतया अपना असहयोग कर ही रक्खा है, आप क्या महासभा के इस असहयोग को अनुचित समझते हैं? हमें आप में ऐसी समझ आ जाने का भी विश्वास नहीं है। फिर भी आप न जाने क्यों इस असहयोग पर व्यर्थ ही छींटाकसी करने के लिये चल पड़े? अब रही मुनियों के प्रति असहयोग की बात, सो किसने उसे वांछनीय समझा है? या कहा है? हां यह जरूर लिखा है कि जो अपने सदाचारों में शैथिल्य एवं वैपरीत्य कर लेंगे, उनसे समाज को अपना पीछा छुड़ा कर असहयोग करना ही पड़ेगा। इस स्पष्टसत्य से आप भी प्रतिकूल नहीं हो सकते हैं। फिरःव्यर्थ ही आप ने क्यों अनुचित टीका टिप्पणी करना प्रारभ कर दिया? छोड़िये इस विसंवाद को, और रहने दीजिये शांति पूर्वक बने हुए संगठन को।

इस लेख के छप चुकने पर अभी हाल के जैनदर्शन के ता० १०-५-५५ के १४ वें अंक में श्री सीमंधरदास जैन के नाम से "थोथाचणा बाजेघणा" हेडिंग का एक लेख प्रकाशित हुवा है जिसमें लेखक ब्रह्मचारीजी के लेख की प्रशंसा करते हुए केवल "उष्ट्राणां विवाहे तु गर्दभा गीतगायकाः" को चरितार्थ किया है कोई भी विधि या युक्ति प्रदर्शित नहीं की अतः उसका उत्तर देना व्यर्थ है। हम अपनी लड़की की सगाई एवं विवाह के प्रोग्रामों में विशेष व्यग्र रहे और बराबर बाहर ही रहे अब ज्यों ही उस चिंता से मुक्त हुए इसको प्रकाशित कर दिया। इसमें कुछ विलम्ब अवश्य हुवा तदर्थ क्षमा प्रार्थी हैं। धर्मालंकारजी ने अपने दो शब्दों का समाधान अन्त तक भी नहीं भेजा। शायद वे अपना समाधान पृथक् प्रकाशित करें।

ता० ३-६-५५ शिवजीराम जैन पाठक